संपादक
यशदेव शल्य - मुकुंद लाठ

प्रबन्ध संपादक
अम्बिकादत्त शर्मा

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 24, अंक 1
जनवरी, 2010

वर्ष 24 अंक 1 जनवरी, 2010

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

प्रबन्ध-सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

परामर्शदाता

1. गोविन्दचन्द्र पांडे, एम 2/4, विश्वविद्यालय परिसर, विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन–456010
2. रमेशचन्द्र शाह, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
3. अशोक वाजपेयी, सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–96

सम्पादक

1. यशदेव शल्य, पी–51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015, दूरभाष 2707493
2. मुकुन्द लाठ, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302006 दूरभाष 2294727/2293725
3. अम्बिकादत्त शर्मा, सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–264587 मो. 09406519498

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Print)

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 50/–
संस्थाएं : रु. 100/–

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 1000/–
संस्थाएं : रु. 5000/–

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

अनुक्रमणिका

1.	ब्रह्मवाद की तात्त्विक सहिष्णुता	*गोस्वामी श्याममनोहर*	1
2.	ब्रह्मजिज्ञासा और मोक्षसंप्रत्यय	*नारायण शास्त्री द्राविड़*	25
3.	अपोहवाद और व्याकरण परम्परा के शब्दार्थ सिद्धांतों की समीक्षा	*अम्बिकादत्त शर्मा*	37
4.	स्मृति के अप्रामाण्य की न्यायशास्त्रीय दृष्टि	*सच्चिदानन्द मिश्र*	62
5.	आधुनिक प्रौद्योगिकी : समसामयिक विमर्श	*आलोक टण्डन*	80
6.	बीसवीं शती के कुछ विचारक और 'मनुष्य'	*राजेन्द्र स्वरूप भटनागर*	99
7.	पुस्तक–समीक्षा वेदांती समाजवाद, प्रो. जटाशंकर	*मुश्ताक अली*	108
8.	नारायण शास्त्री द्राविड़ का स्मरण	*सच्चिदानन्द मिश्र*	113

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
5.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
6.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
7.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
8.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

ब्रह्मवाद की तात्त्विक सहिष्णुता

गोस्वामी श्यामं मनोहर

{1. "मेरी वाणी प्राण नयन कान बल और सारी इन्द्रियाँ तथा अंग तृप्त रहें ! औपनिषद् ब्रह्म ही तो सभी कुछ है। अतः न तो कभी मैं ब्रह्म का निराकरण करूं और न ब्रह्म ही मेरा कभी निराकरण करे, ऐसा परस्पर अनिराकरण दोनों के बीच सिद्ध हो ! आत्मा इस तरह जब निरत हो पाती है तो उपनिषदों में जिन ब्राह्मिमक धर्मों का निरूपण किया गया है, वे मेरे भीतर भी प्रकट हो पायेंगे ! ऊँ ! कायिक शान्ति, वाचिक शान्ति और मानसिक शान्ति प्रकट हो जाये !" (केनो प.शां.पा.)'

"अन्धकार और विरोधाभास से ग्रस्त हो जाने की दिशा में मानवीय तर्क सत्वर तत्पर रहता है... क्योंकि जिन धारणाओं या सिद्धान्तों का वह उपयोग करना चाहता है, वे अनुभवों की मर्यादाओं से अतीत होते हैं, वे हमारे इन्द्रियजन्य अनुभवों पर आश्रित या परीक्षण के विषय बन नहीं पाते। यों इन अन्तहीन विवादों की युद्धभूमि को ही 'पराभौतिकी' 'तत्त्वशास्त्र' कहा जाता है। एक समय था कि जब पराभौतिकी सभी विज्ञानों की महारानी मानी जाती थी... अब तो समय के दिशा बदलते प्रवाह के वश इस भद्र महिला के प्रति तिरस्कार का अतिरेक बढ़ गया होने से वह हेकुबा की तरह विलाप करती सी लगती है कि "मैं अपने यश की गरिमा के शिखर पर अनेक पुत्रों के रहते भी निर्वासित भटक रही हूँ" ('शुद्ध–उपपत्तिमीमांसा' के प्रथम संस्करण के उपोद्घात में इमानुएल कान्ट)}

(1)

जर्मनी के महान् दार्शनिक इमानुएल् कान्ट् ने बाह्य पदार्थ या वस्तु को अज्ञेय; जबकि, यथावभात वस्तु को हमारे भीतर वस्तु के अवभासन की जो अपिहार्य कारणसामग्री उपलब्ध रहती हैं, उनकी मर्यादाओं के अनुसार ही अवभासित होने से ऐसे अवभासन का याथार्थ्य अशक्य मान लिया है।

यहाँ यह विचारणीय लगता है कि बाह्य पदार्थ या वस्तु के बारें में जैसी धारणा हम घड़ते हैं, बाह्य वस्तु का सर्वथा तदनुरूप होना अथवा

हमारी अनुभूतियों का ही बाह्य वस्तुओं के सर्वथा अनुरूप होना निश्चित हो भी सकता है और नहीं भी। फिर भी बाह्य पदार्थों के साथ स्वयं हमारे दैनन्दिन व्यवहारों के उदाहरण में अपनी अभिलाषा अपेक्षा आवश्यकता या योजना के अनुरूप क्या हम बाह्य वस्तुओं का आविष्कार, पुनर्निर्माण, परिवर्तन या परिवर्धन कर नहीं पाते ! वस्तुतः आधुनिक विज्ञान की विविध शाखाओं ने इस दिशा में नित्य–नूतन वैज्ञानिक अन्वेषण और नित्य–नूतन आविष्कारों द्वारा मानवीय चेतना को न केवल चकित प्रत्युत झकझोर सा ही दिया है। अतः हमारी चेतना के अन्यतम व्यापार अभिलाषा अपेक्षा आवश्यकता या योजना के अनुरूप यदि बाह्य पदार्थ प्रकट हो पाते हों या घड़े जा सकते हों तो, उसकी चेतना के अन्यतम आयामरूप अनुभूति या अवधारणा रूपी व्यापारों को बाह्य पदार्थानुरूप स्वीकार लेने में भी, किसी तरह की आपत्ति तो उठनी नहीं चाहिये। यह अनुभूतिरूप या अवधारणारूप चेतनाव्यापार जैसे वस्तुतन्त्र हो सकता है वैसे ही अनुभूति की जनक जो करणसामग्री होती हैं उनके आधीन औपाधिक भी हो सकता है। हमारी अभिलाषा के अनुरूप बाह्य पदार्थों के ढल पाने की केवल एक हकीकत ही, स्वयं बाह्य पदार्थ और आन्तरिक अवधारणाओं के बीच मानी जाती तथाकथित ऐकान्तिक अननुरूपता को अप्रामाणिक सिद्ध कर देती है।

कौन नहीं जानता कि प्रारम्भ में अनवगत परन्तु बाद में न केवल भलीभांति अन्विष्ट; प्रत्युत, मेंदेलेव सदृश वैज्ञानिकों द्वारा सभी के इलेक्ट्रॉन्स् न्यूट्रॉन्स् के विविध आणविक भारों की सारणी द्वारा सुव्यवस्थापित प्रकृतिसिद्ध 94 तत्त्वों के आईसोटोप्स् के अलावा भी संप्रति वैज्ञनिकों द्वारा कृत्रिम 14 या 15 आईसोटोप्स्, मस्तिष्क के भीतर केवल प्रत्ययों के रूप में नहीं प्रत्युत प्रकृतिसिद्ध अन्यान्य तत्त्वों की तरह ही मस्तिष्क से बाहर विद्यमानतया स्वीकारे गये हैं अथवा प्रकट किये गये हैं।

माइक्रोस्कॉपिक सूक्ष्मतम संरचना वाले एककोशीय जीवाणु रासायनिकाणु भौतिकाणु जैसे पदार्थों की तरह, सुदूरतर बाह्य अवकाश में अवस्थित टेलिस्कॉपिक स्थूलर ब्रह्माण्ड कृष्णविवर तारा उल्कापिण्ड जैसे पदार्थों को भी; अथवा, हमारे भीतर ज्ञानोपकरणतया भरी हुयी सामग्रियों की संरचनाओं को भी पहले कभी हम तदोपलब्ध ज्ञानोपकरणों के सहारे तो कथमपि जान नहीं पाते थे।

नेत्रपटल भी तो, अपनी प्रतिबिम्बग्राहिणी संरचना के आधीन, दृष्टिगोचर

होने वाले बाह्य पदार्थों को दिशाव्यत्यय द्वारा, अर्थात् दृश्यवस्तु के ऊपरी भाग को नीचे और दायें भाग को बायें ही, गृहीत करता है। फिर भी मस्तिष्क उसे बाह्य देश में यथावस्थित ही प्रदर्शित करता है, नकि अपरिहार्य ज्ञानोपकरणोपहित दृश्यरूप की आभासित रीति के अनुसार।

वैसे आज तो ऐसे सभी बाह्य पदार्थों को जान पाने के अनेकविध वैज्ञानिक उपकरण, नामतः, एक्सरे इन्फ्रारेड–वेव्स्, अल्ट्रावायोलेट–वेव्स्, सोनोग्राफी, एम.आर.आई., माइक्रोस्कोप, टेलीस्कोप राडार आदि भी आविष्कृत हो चुकें हैं। इन नूतन आविष्कृत उपकरणों के कारण ज्ञानोपकरण की सामग्रियों की कार्यप्रणाली, उनके मस्तिष्कान्तर्वर्ती केन्द्रों या नाड़ियों की तरह उनमें प्रयुक्त होने वाले जैवरसायनों, आदि का भी इदमित्थं ज्ञान प्राप्त होने लगा है। न केवल इतना अपितु उनके भलीभांति कार्यक्षम न हो पाने पर जेनेटिकल पुननिर्माण भी दिनानुदिन शक्य बनता जा रहा है। इससे आगे बढ़ कर इन जैविक ज्ञानोपकरण की सामग्रियों के अनुकरण द्वारा अजैविक डिजिटल तकनीकी जड़यन्त्र आंख की तरह काम करते डिजिटल केमेरा, कान की तरह काम करते माईक, मुख की तरह काम करने वाले स्पीकर, नाक की तरह गन्धग्राही उपकरण, मस्तिष्क के विचारों को पढ़–जान पाने वाले उपकरण, चरण, हस्त आदि भी आविष्कृत हुए हैं।

अतः स्वयं अज्ञेयवाद, अर्थात् एग्नोस्टिसिजम्, ही अपनी अनेकानेक अकाट्य उपपत्तियों के साथ महारानी हेकुबा की तरह विलाप करता सा अब प्रतीत होने लगा है।

अतएव वस्तुतः तो बाह्य पदार्थ के अंशात्मना या पूर्णताया अज्ञेय होने की अवधारणा भी, दोनों के बीच किसी न किसी तरह के आदान–प्रदानात्मक अन्तर्व्यवहार का सबल प्रमाण मानी जानी चाहिये; बाह्य पदार्थ के अज्ञेयतया समवधारित होने के कारण ही। अतएव आत्यन्तिकी अननुरूपता या इतरेतरासहिष्णु विसंवादिता युक्तिसंगत नहीं लगती है।

निष्कर्षतया कहा जा सकता है कि विज्ञानतया अभिमत अनेकविध विद्याओं की महारानी पराभौतिकी का, हेकुबा की तरह अकारण, विलाप करते रहने का अब कोई औचित्य शेष नहीं रह गया है। फिर भी पराभौतिकी के लिये भी, अपने प्रशास्य प्रदेशों की परिधियों या परिसीमाओं का प्रशासनौपयिक निःसन्देह आकलन कर लेना आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य हो गया है। अतः अनेक पुत्रों के विद्यमान रहने पर भी, निर्वासित होने की आत्मग्लानि या

कुण्ठा से अकारण त्रस्त या ग्रस्त होने के बजाय विकसमान अद्यमान विविध विज्ञानों के सूचनों को दत्तकविधान की प्रक्रिया द्वारा अपने पुत्रतया मान्य करने का औदार्य उसे प्रकट करना चाहिये। तभी वह सर्वविध त्रास एवं कुण्ठा से मुक्ति पा सकेगी !

अपने देश में भी, जर्मनदेशीय इमानुएल कान्ट् की तरह ही, तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र यद्यपि केवलाद्वैतवाद का परन्तु प्रामाण्यमीमांसा के क्षेत्र में द्वैतवाद का अवलम्बन करने को भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य ने भी कहा है –

''कर्म, लौकिक हों या वैदिक, उन्हें करना हो तो किया जा सकता है, न करना हो तो न भी करना शक्य है; और इसी तरह किसी अन्यथा प्रकार से करना हो वह भी शक्य है। यों तीनों प्रकार के विकल्प शक्य होते हैं... ऐसे, किन्तु, वस्तु के बारे में होने न होने या अन्यथा भी होने के विकल्प शक्य नहीं, विकल्पना तो, पुरुष की बुद्धि अपेक्षा के अनुसार ही होती है। किसी भी वस्तु के याथात्म्य का ज्ञान जबकि पुरुष की बुद्धि की अपेक्षा नहीं रखता। तो उसे क्या अपेक्षा रहती है ? वह तो केवल वस्तु के आधीन ही उत्पन्न होता है... इसी तरह पूर्वसिद्ध वस्तुओं के अनुभव का भी प्रामाणिक होना वस्तुओं के आधीन ही होता है।''[2]

ऐसे प्रतिपादनों में चेतनाशील पुरुष के लिये निजकर्त्तव्य का प्रमाबोध किसी कर्म को करने, न करने अथवा अन्यथा करने के बौद्धिक संकल्प के अधीनतया मान्य किया है। इसके विपरीत बाह्य वस्तु के याथार्थ्य के अवबोध में बुद्धितन्त्रता के बजाय वस्तुतन्त्र का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। यों प्रमाणमीमांसा में द्वैतवाद को पुरस्कृत किया जाना सिद्ध हो जाता है।

इस सन्दर्भ में यह अवधेय है कि वस्तुतः तो चेतनाशील पुरुष में भी स्वभावजन्य, अथवा आधुनिक शरीरशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार कहना हो तो ओटॉनोमस् नर्वस् सिस्टम् के कारण, उदाहरणतया, श्वासोच्छ्वास, शयनावस्था में पार्श्वपरिवर्तन, पक्ष्मपातन, जागरण, रोदन–हास्य, नाडियों में रक्ताभिसंचरण इत्यादि अनेकविध क्रियायें बौद्धिक संकल्प के बिना ही सजीव शरीर के स्वभाववश भी प्रकट होती दिखलायी देती हैं। अतः शरीरोद्भूत क्रिया अथवा कार्यों का बौद्धिक संकल्प से नियततया जन्य होना ही विवाद के घेरे में घिरा हो तब उनके कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य या अन्यथाकर्त्तव्य होने का प्रमाबोध भी संकल्पमूलक कैसे रह पायेगा ?

इसी तरह भूकम्प, बाढ़, अंधड़ आदि प्राकृतिक प्रभावों के वश असंकल्पित, उदाहरणतया, गिरना, बहना, चलते–चलते अचानक ऊपर उड़ जाना आदि, क्रियायें शरीर में प्रकट होती ही हैं। इन क्रियाओं में ग्रस्त शरीरी अपने खण्डित अहंकारवश उन्हें असंकल्पित क्रिया मानता हो तो माने परन्तु "मैं गिर रहा हूँ–मैं बह रहा हूँ–मैं उड़ रहा हूँ" ऐसी अुनभूतियों का शरीर में प्रकट होना तो इन्कारा नहीं जा सकता है। इसी तरह शरीर को प्रभावित करने वाले शीतातपवर्षाजन्य रोग आदि हेतुओं के प्रभाववश भी, उदाहरणतया, अंगकम्पन, वमन, अतिरेचन, प्रलाप आदि अनेकविध क्रिया बिना ही किसी संकल्प के ही हमारे शरीर में प्रकट होती दिखलायी नहीं देती क्या ? ऐसी स्थिति में इन अनेकविध क्रियाओं के बारें में हमें न तो संकल्पजन्यता और न कर्त्तव्यता का ही बोध होता है। अतः भूतवस्तु न होने पर भी इन क्रियाओं में भी वस्तुतन्त्र प्रमाबोध स्वीकारना ही पड़ता है।

ऐसी स्थिति में समान शरीर में कुछ क्रियायें संकल्पित होती हैं तो बहुत सारी क्रियायें असंकल्पित भी होती हैं, ऐसा अर्धजरतीयन्याय से स्वीकार कर लेना ही युक्तिसंगत लगता है।

न केवल इतना प्रत्युत प्रत्यक्षावभासन भी, कुछ उदाहरणों में, संकल्पतन्त्र होता है तो अन्य कुछ उदाहरणों में वस्तुतन्त्र भी। असंकल्पित प्रत्यक्षों के उदाहरणतया जैसे विद्युत्प्रकाशनमेघगर्जन आदि की चाक्षुष या श्रावण प्रत्यक्षानुभूति वस्तुतन्त्रतया प्रकट होती हैं, वैसे ही इच्छाजन्य या प्रयत्नजन्य क्रियायें भी प्रकट होती ही हैं। क्योंकि मुख के असंकल्पित प्रत्यक्षावभासन के काल में भी केवल नासिकादर्शन, नयनगोलकदर्शन, कपोलचिबुक आदि में अवस्थित तिलकालक के संकल्पजन्य दर्शन या एकाग्र अनुदर्शन सुकर होते ही हैं। इन उदाहरणों में अक्रियारूप अर्थात् ज्ञानरूप होने पर भी संकल्पतन्त्रता सर्वविदित और सन्देहातीत तथ्य है। इसी तरह गीतश्रवणकाल में भी षड्जादिस्वतरश्रुतियों का भलीभांति एकाग्र अनुश्रवण भी, इच्छा संकल्प या प्रयत्न के वश, होता भी पाया जाता है। भूमि आदि पर समुपवेशन के समय भूमि आदि में अवस्थित तीक्ष्ण कण्टक आदि की तीक्ष्णता का स्पार्शन आकलन भी इच्छा या प्रयत्न के कारण ही शक्य हो पाता है।

अतः शरीर में प्रकट होने वाली सभी क्रियायें न तो कर्त्तव्यतया अभिप्रेत होती हैं न अकर्त्तव्यतया ही; और, न ज्ञान ही अपने सर्वविध प्रकार में सर्वदा अचिकीर्षित या अकर्त्तव्य होने के कारण वस्तुतन्त्रतया ही प्रकट होता है।

अतः क्रियाबोध की केवल संकल्पतन्त्रता और रूपादिबोध की केवल वस्तुतन्त्रता के द्वैत के बारे में भी औत्सर्गिक या आपवादिक विषयव्यवस्था अपेक्षित है ही। अतः इस विषय में कोई साधारण नियम स्वीकारा नहीं जा सकता है। वेद के संहिता ब्राह्मण एवं उपनिषदों में भी, अतएव, प्रजापति विष्णु अग्नि आदि यज्ञदेवताओं को तथा ब्रह्म को सिद्ध तथा साध्य उभयरूप स्वीकारा गया है :

क. ''जो भी कोई सतरह प्रकार के प्रजापति को यज्ञ में अनुगत स्वीकार पाता है''।

ख. ''वह (प्रजापति) यज्ञ बन कर यज्ञ का कारण स्वयं ही बना'', ''विष्णु यज्ञरूप भी है और यज्ञदेवता भी''।

ग. ''नाम रूप कर्म वैसे तो तीन होते हैं... ब्रह्म किन्तु इन सभी नामों का... रूपों का... भरण करता है। अतः ये तीन होने पर भी आत्मा के रूप में एक होते हैं। इसी तरह आत्मा भी एक होने पर भी तीन होती है...''[3]

अतः क्रिया एवं ज्ञान के बीच पुरस्फूर्तिक रूप में यद्यपि परस्पर 'अस्ति–भवति', अर्थात Being-Becoming, के जैसा प्रभेद या तारतम्य प्रकट होता है। परन्तु स्वयं 'अस्ति' (Being) ही तो कालप्रवाह की क्षणरूप उपाधियों में प्रकट हो जाता है। इसके अलावा 'भवति' (Becoming) और क्या है ? यदि अपने घर की खिड़की में से बाहर दिखलायी देते असीम आकाश को केवल खिड़की की सीमा में दिखलायी देने के अपराधवश भिन्न या खण्डित न मानना हो तो। अतएव महर्षि यास्क निरुक्तनिघन्टु में कहते हैं :

''क्रियापद में प्रधानता भाव (अर्थात् अस्थिर क्रिया होने) की होती है। नाम पद में, जबकि, प्रधानता स्थिर सत्ता की होती है... सत्तावान् पदार्थों का निर्देश 'यह गाय है', 'यह घोड़ा है', 'यह पुरुष है', 'यह हाथी है' ऐसा (अंगुलीनिर्देशपूर्वक) किया जाता है। इसके विपरीत भाव का निर्देश 'यह हो रहा है' इस तरह के शब्दों में 'बैठ रहा है'–'सो रहा है'–'जा रहा है'–'खड़ा हो रहा है' ऐसे किया जाता है... इस भाव के छह विकार होते हैं, ऐसा वार्ष्यायणि ऋषि का अभिप्राय है : 'पैदा होता है', 'है', 'विपरिणत होता है', 'बढ़ता है', 'घंटता है' और 'विनष्ट हो जाता है'... इनके अतिरिक्त जो भी कोई विकार होते हैं, उन्हें भी इन्हीं विकारों में अन्तर्भूत समझ लेना चाहिये, ऐसा वार्ष्यायणि ने कहा है।''[4]

अतएव ब्रह्म को नित्य निर्विकल्प मान लेना, क्योंकि विकल्प तो क्षयिष्णु कर्मों में ही शक्य हो सकते हैं, यह धारणा मूल में भगवद्गीता के "कर्म में, यदि, ऐसी ब्रह्मसमाधि सिद्ध हो जाये तो अर्पण भी ब्रह्मरूप हो जाता है, हवि भी ब्रह्मरूप, अग्नि भी ब्रह्मरूप, अर्पणकर्त्ता भी ब्रह्मरूप और जिसे अर्पण किया जाता है वह भी ब्रह्मरूप है"[5] वचन से विपरीत प्रतीत होती है। क्रियोपकारक कर्त्ता कर्म, करण, सम्प्रदान और आधिकरण रूपी पांच कारकों से सम्पन्न होती क्षयिष्णु क्रिया भी उसके सभी कारकों में ब्रह्म भाव दृष्टि रख कर अनुष्ठित हो पाती हो तो वह क्षयिष्णु होने के बजाय अक्षय ब्रह्मात्मिका कर्म समाधि बन जाती है, ऐसा भगवद्गीता तो आश्वासन प्रदान करती ही है। अतः अकारण ही कर्म के वास्ते अब्रह्म बुद्धि के वश असहिष्णु बरताव नहीं करना चाहिये।

(2)

अस्तु मस्तिष्क विज्ञान की अभी तक विकसित शाखा ने पराभौतिकी द्वारा प्रशासित जिन प्रदेशों को पदाक्रान्त बनाया है, वह सजीव प्राणियों में प्रकट होती स्वाभाविक या प्राभाविक क्रियाओं एवं संवेदानाओं का क्षेत्र है। इस क्षेत्र में निरीक्षण तथा परीक्षण प्रचुर हुए हैं। शारीरिक क्रिया या संवेदना क्षेत्रों के विमर्श में मस्तिष्क के भीतर अवस्थित विभिन्न केन्द्रों के नक्शों के निर्माण तथा उनके अनुकरण द्वारा वैसे जड़ या जैविक यन्त्रों का भी निर्माण एवं प्रयोग, पराभौतिकी तत्त्वशास्त्र द्वारा प्रशासित प्रदेशों को हथिया लेने के वास्ते, आधुनिक विज्ञान का सर्वथा अद्यतन पादक्षेप यह है। सफल होने पर आधुनिक विज्ञान पराभौतिकी तत्त्वशास्त्र का सहयोगी ही बनेगा या विरोधी ही, इस बारे में आशावादी या निराशावादी बनना एक वैचारिक धांधली मुझे अभी लगती है।

कलानुभूति या कलाविष्कृति, नैतिक कर्त्तव्यबोध या कर्त्तव्यानुष्ठान अथवा किन्हीं विषयों में धार्मिक आस्था या तद्नुरूप धर्मानुष्ठान को सम्पन्न करने वाले मस्तिष्क के भीतर रहे बोध केन्द्र या आदेशकेन्द्र वहाँ कहाँ पर अवस्थित हैं, उनमें अपने कार्य को सम्पन्न करने में किस प्रकार के वैद्युतरासायनिक परिवर्तन आते हैं, इन सारी बातों से जुड़े परीक्षणों में पराभौतिकी–प्रशासित क्षेत्रों का बलाद् अधिग्रहण कर उन्हें निज अंकुश में लाने को आधुनिक विज्ञान ने दुर्दम पराक्रम प्रकट किया है। पर यह तो सजीव प्राणी की चेतना के विकास के प्रायः सभी सोपानपुर अभी ही नहीं सदा–सर्वदा चलती आयी चिरन्तन कथा है।

जड़ पदार्थों की विविधता में भी तो कोई एक पदार्थ कभी दूसरे पदार्थ का आविर्भावक, तो कभी परिवर्धक, तो कभी परिशोषक या परिहारक कब नहीं था! इन्हीं जड़ पदार्थों के बीच प्रकट होने वाले सजीव अचर स्पर्शवेदी शरीरों को जड़ पदार्थों पर जैसा वर्चस्व प्रकट हुआ वैसा ही इन सजीव अचर पदार्थों पर भी तो पुनः सचर स्पर्शवेदी शरीरधारियों का वर्चस्व या अंकुश रहा ही है। उनमें भी पुनः विद्यमान रस–गन्ध–ध्वनि–रूप के संवेदी सजीव शरीरों पर इन पंचविध तन्मात्राओं के न केवल विद्यमानसंवेदी अपितु स्मृतिजन्य संस्कारवश प्रत्यभिज्ञासम्पन्न सजीव प्राणियों का भी वर्चस्व रहा ही है। विकाससोपान पर प्रकट होने वाले इन पर भी पुनः इस पंचविध तन्मात्रमाओं की समुत्पत्ति–समापत्ति–समाप्ति के संवेदी शरीरों का वर्चस्व रहा ही है। यों अपने से ऊपर ले विकाससोपान पर प्रकट होने वाली बुद्धि सामर्थ्य का निचले सोपानों पर प्रकट होने वाले बुद्धिसामर्थ्य पर वर्चस्व सर्वदा ही इतिहाससिद्ध रहा है। फिर भी प्रकृति ने अपने सन्तुलनशील स्वभाव के वश किसी को जीवनाधारहीन बना कर विनष्ट नहीं होने दिया।

अतः यह कहने का साहस हम जुटा पाते हैं कि निचले सोपानों पर अवस्थित बाह्य पदार्थों के असंकल्पित अनुभवों अवधारणाओं तथा व्यवहार्यता पर पराभौतिकी विदों को सताने वाली अनिश्चिति आज कष्टप्रद भी हो तब भी भविष्य में अनुभवातीत पदार्थों के चिन्तन क्षेत्र में निजवर्चस्विता के वास्ते पराभौतिकी के चिन्तकों के हित में प्रकृतिस्वभावोपात्त सन्तुलन प्रकट हो ही जायेगा! क्योंकि प्राणिविकास के विविध सोपानों पर भी निचले स्तर की संवेदनशीलता वाले सजीव प्राणियों पर उपर के स्तर के सजीव प्राणियों का वर्चस्व पहले भी दुःसह रहा होने पर भी सर्वथा असह्य या निःशेष विघातक तो कभी हो नहीं पाया, वैसे ही निचले स्तर के पदार्थों के स्वरूप अनुभव एवं व्यवहारिक उपयोगिता की रीति को आधुनिक विज्ञानों की विविधता हथिया भी लेगी, तब भी उनसे उपर वाले अनुभवातीत पदार्थों पर पराभौतिकी–चिन्तन अवरुद्ध नहीं हो पायेगा। भूतकाल में भी जैसे निचले स्तर की विद्यमानवेदी चेतना को जहाँ अभावबोध होता होगा, तब वहीं समुत्पत्ति–समापत्ति–समाप्ति की संवेदनशील चेतना भावग्राहिणी बन जाने के कारण अपने व्यवहार को व्यापक क्षेत्रों में वर्चस्वितया कार्यकारी बना पायी थी। फिर भी स्वाभाविक अनुभूति के क्षेत्र में कुछ न कुछ तो आपाधापी प्राणियों के इतिहास में भी सदा–सर्वदा प्रकट होती ही रही है। प्रकृति की सर्वपालनात्मिका शक्ति के कारण इसी तरह का सन्तुलन सदा–सर्वदा निभता रहा है !

एक सन्दर्भान्तर में इस तरह की आपाधापी की दारुणकथा भागवतपुराण में इन उल्लेखनीय शब्दों में वर्णित हुयी है :

क. "बिन हाथ वाले प्राणी हाथ वाले प्राणियों के भक्ष्य बनते हैं, बिना पग के जो प्राणी होते हैं वे चौपगे प्राणियों के भक्ष्य बन जाते हैं, क्षुद्रकाय प्राणी महाकाय प्राणियों के भक्ष्य बनते हैं। प्रत्येक जीव का जीवन इस तरह दूसरे जीव पर टिका हुआ है। वैसे तो इन सभी रूपों में एकमात्र स्वयंप्रकाश भगवान्... जो आत्माओं के भी आत्मा हैं, वे भीतर भी अनुभूत होते हैं और बाहर भी। अपनी मायाशक्ति के कारण बहुधा भासित होते हैं"।

ख. "उन परम भगवान् ने प्रत्येक सर्ग के बाद अपनी शक्ति द्वारा यह प्रकट किया है... समुद्र के भीतर से बाहर निकाली पृथ्वी को जब द्रुमों से चारों ओर घिरी हुई पायी तो अनुसर्ग के निर्माणार्थ नियुक्त क्रुद्ध हो गये.... और वायु और अग्नि का निर्माण करके उन वृक्षों को जला देने तत्पर हो गये... उनके द्वारा वृक्षों को जलता हुआ देखकर... उनके क्रोध को शान्त करते हुए बोले 'इन दीन वृक्षों को जला देना आवश्यक नहीं, क्योंकि आपको तो प्रजाओं के पति के रूप में प्रजा की वृद्धि का कार्य सौंपा गया है न कि वृक्षों को जला देने का! प्रजापतियों के पतिरूप विभु अव्यय भगवान् हरि ने ऊर्जा प्रकट करने के हेतु वनस्पतियों का एवं ओषधियों का निर्माण किया है, क्योंकि अचर प्राणी चरिष्णु प्राणियों के अन्न बनाये गये हैं। चरणरहित प्राणी पादचारियों के अन्नतया निर्मित हुए हैं, हस्तरहित प्राणी हस्तयुक्तों के अन्नतया निर्मित हुए हैं, दो पग वाले प्राणी चार पग वाले प्राणियों के अन्नतया निर्मित हुए हैं। अतः आप तो पापरहित होने के कारण देवाधिदेव और अपने पिता की आज्ञा के अनुसार प्रजाओं के सर्ग के लिये नियुक्त हुए हो सो वृक्षों को जला देना आपके लिये कैसे उचित हो सकता है ? अतः सज्जनों के मार्ग को अपना कर अपने इस धधकते कोप का त्याग आपको कर देना चाहिये"[6]

अतः यह तो सृष्टि के निर्माणसंविधान में सर्वत्र उपलब्ध होने वाला शाश्वत सत्य ही है! अतएव प्रचुर अन्न के चतुर्दिक् पर्यावरण में ही अन्नाद प्राणी जीवित या विद्यमान रह सकता है और अन्नाद प्राणी के भीतर पहुँच जाने के बाद भक्षित अन्न ही अन्नाद के साथ स्वरूपभावापन्न हो जाता है। अतएव भक्ष्य अन्न और भक्षक अन्नाद के बीच परस्पर अद्वैतानुभूति में आत्मविश्वैक्य भाव का उपदेश तैत्तिरीयोपनिषद् में मिलता है :

"मैं स्वयं अन्न भी हुँ... और अन्नभक्षी भी... मैं उस अन्न का भक्षण करता हुँ जो अन्न मेरा भक्षक है... यों सोचने पर मैं सारा भुवन बन जाता हुँ। जो इस तरह समझ पाता है उसके लिये सुप्रकाश ज्योति प्रकट हो जाती है"[7]।

मुझे तो ऐसा लगता है कि आधुनिक विज्ञान के द्वारा पराभौतिकी के क्षेत्र को हड़पे या निगले जाने पर अन्नाद आधुनिक विज्ञान के भीतर जब पराभौतिक शास्त्र अन्नात्मना पहुँच जायेगा तब भक्ष्य अन्न और भक्षक अन्नाद के बीच तादात्म्यभावापत्ति सिद्ध हो जायेगी। फलरूपेण पराभौतिकी आधुनिक विज्ञान को सहज ही पराभौतिकी भावापन्न बना कर उसके स्वरूप की घटक बन जायेगी! अतः ऐसे पराक्रम के सफल होने पर भी विज्ञान उतना ही नियन्त्रण हमारी चिन्तन सामर्थ्य पर प्रकट कर पायेगा जितना कि ऐसे नियन्त्रणों द्वारा यथाभिलाष स्वयं को भलीभांति सम्पन्न करने में सक्षम बन पाये, उससे अधिक नहीं।

अतः आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन यदि पराभौतिकी चिन्तन पर कोपमयी या हिंसात्मिका दृष्टि रखता है तो वह दृश्यसृष्टि का वास्तविक हित नहीं कर पायेगा! वास्तविक विश्वहित तो पराभौतिकी चिन्तन की तरह दृष्टृसृष्टि पर भी अनुकम्पामयी या स्नेहमयी दृष्टि को निभाने पर ही शक्य है। इसी तरह पराभौतिकी चिन्तन को भी आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन पर कोपमयी हिंसात्मिका दृष्टि नहीं रखनी चाहिये।

क्योंकि दिखना/देखना, सुनाई देना/सुनना, प्रिय लगना/प्रेम–करना, अप्रिय लगना/उपेक्षा–द्वेष–करना, भय लगना/डरना–चाहना अथवा विचार–आना/विचार–करना आदि प्रकार भेदों के बने रहते विचारशील मानवपशु को विचाररहित नहीं बनाया जा सकेगा।

अतएव विज्ञान के अन्वेषण–प्रयोग–आविष्कारों द्वारा प्राप्त निष्कर्षों पर यह चिन्तन प्रधान प्राणी अपना चिन्तन बन्द तो नहीं कर पायेगा। यह तो स्वाभाविक ही है कि पहले जैसे दृष्ट–श्रुत आदि उदाहरणों के आधार पर उभरती जिज्ञासा के उपशमानार्थ/उपपत्ति/अनुपपत्ति सोची जाती थी, उसे अब वैज्ञानिक अन्वेषण–प्रयोगोपात्त उदाहरणों का अवलम्बन कर विचारणीय बनाने को बाधित होना पड़ेगा। प्रारम्भ में इसमें पराभौतिकी चिन्तकों को अपनी हेठी लगती भी हो पर अन्त में कभी न कभी तो लगनी बन्द हो ही जायेगी! अतः मानवीय बुद्धिरूप अधिकरण में समानाधिकरणतया

प्रकट होते पराभौतिक चिन्तन और वैज्ञानिक चिन्तन को ब्रह्मोपम अपने सामानाधिकरण्य का विचार कर परस्पर असहिष्णु नहीं बनना चाहिये। आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तकों द्वारा पराभौतिक चिन्तन की उपेक्षा और इसी तरह पराभौतिक चिन्तकों को सताती आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन की भीति के मूल में, जो समस्या है वह तो विश्लेषणवाद या संश्लेषणवाद के साथ जुड़ी अतिरेकतावादी मनोवृत्ति ही है।

उदाहरणतया वैशेषिकों के भावपदार्थ का ''[1] द्रव्य [2]गुण[3] कर्म[4] सामान्य[5] विशेष[6] समवाय'' में विश्लेषण स्वयं वैशेषिकों ने ही पुरस्कृत किया है। उनके इस अपराधवश, यदि, बौद्ध चिन्तन भावपदार्थ को स्वीकारना न चाहता हो तो, वैशेषिक भी कह तो सकते हैं कि ''[1] दुख[2] अविद्या [3] संस्कार[4] विज्ञान[5] नामरूप [6]षडयतन [7] पर्श [8]वेदना [9]तृष्णा [10]उपादान[11] भव [12]जाति'' के दुःखचक्र का अपने घटकों में विश्लेषण स्वयं बौद्धों ने ही प्रस्तुत किया है। अतः ये बारह घटक तो स्वीकारे जा सकते हैं पर इनसे घटित दुःखचक्र नहीं, न तो प्रतीत्यसमुत्पाद की प्रक्रिया के अवलम्बन द्वारा और न अस्ति–नास्ति–उभय–अनुभयातीत शून्यता की प्रक्रिया के अवलम्बन द्वारा और तब तो ''[1]सम्यग्दृष्टि[2] सम्यक्संकल्प [3]सम्यग्वाचा [4]सम्यग्क्कामान्त [5]सम्यगाजीव [6]सम्यग्व्यायाम [7]सम्यक्स्मृति [8]सम्यक्समाधि'' वाले अष्टांगमार्ग का विश्लेषण भी स्वयं सौगतों द्वारा पुरस्कृत होने से प्रज्ञा–शील–समाधि की दुःखनिरोधगामिनी त्रयी भी स्वीकार्य न हो पायेगी!

ब्रह्माण्डविज्ञान की दृष्टि से सौरमण्डल का भी उसके नाभिदेश में अवस्थित सूर्य तारा एवं उसकी परिक्रमा करने वाले बुध शुक्र पृथ्वी मंगल गुरु शनि आदि ग्रहपिण्डों में विश्लेषण शक्य होने से 'सौरमण्डल' पद को वाच्यार्थहीन वाचक माना जा सकता। सौरमण्डल के, क्योंकि, अस्तित्व को इन्कारने पर पृथ्वी पर जन्म ले कर ऐसा विधान करने वाला स्वयं ही असिद्ध हो जायेगा !

किसी बाह्य पदार्थ के चाक्षुष अवभासन की प्रक्रिया में, क्योंकि, बाह्य पदार्थ की बाहरी परत पर से परावृत्त प्रकाश नेत्रपटल में प्रतिबिम्बित होता है, वहाँ प्रकाश के ग्रहणार्थ शंकु–शलाकाओं में प्रकाशकिरणों का पृथ्क्करण होता है, बाद में नेत्रगोलक और मस्तिष्क के बीच जो नाडीतन्त्र बिछा हुआ है उनमें रहने वाले नाडीकोशों (Nereve cells or neurons) में वैद्युतरसायनिक तरंगों में रूपान्तरण प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट होता है। ये

तरंगें मस्तिष्क के भीतर भरे संवेदनशील नाड़ीकोशमुकुरों (Mirror neurons) में दर्ज होते हैं। इस तरह नेत्रपटल पर प्रकाश पातन की प्रक्रिया से शुरु होने वाली क्रिया की वैद्युत रसायनिक प्रतिक्रिया की कई कड़ियों के अलावा चाक्षुष अवभासन की चेतनात्मिका सत्ता को अस्वीकार भी किया जा सकता है। ऐसे विश्लेषणवाद की, परन्तु, अतिरेकिता के वश तो सम्पूर्ण मानव शरीर की वास्तविकता को भी इन्हीं के जैसी प्रक्रियाओं में किये जाते विश्लेषणों के आधार पर इन्कारा जा सकेगा। शरीरान्तर्वती काम या प्रेम की इच्छा भी अन्त में टेस्टोरेन् की रासायनिक प्रतिक्रिया के अलावा अन्य कुछ नहीं !

अतः ऐसे इन सभी उदाहरणों की सम्पुष्टि मोबाईल या डिजिटल केमेरा आदि उपकरणों में रहे प्रकाश ध्वनि स्पर्श गन्ध आदि के ग्राहक संवाहक संग्राहक डिजिट्स् की दुहाई दे कर की जाती है। एतावता मानवीय शरीर में प्रकट होती इन संवेदनाओं को आत्मघातक विश्लेषणवादिता के अतिरेक में कैसे इन्कारा जा सकता है ? क्योंकि इन कृत्रिम उपकरणों में भी ऐसी बाह्य तन्मात्राओं की ग्राहकता, उनके भीतर रहे कोषोपम कोष्ठों तक उनकी संवाहकता और उनके वहाँ किये जाते संग्रहण की वास्तविकता का निर्धारण भी, पुनः प्रकृति द्वारा विनिर्मित सजीव कोषों द्वारा किये जाते ग्रहण संवाहन एवं संग्रहण के साक्ष्य पर अवलम्बित हुए बिना शक्य नहीं।

मेंदेलेव द्वारा सारणीबद्ध किये गये सृष्टि के मूल तत्त्वों का भी इलेक्ट्रॉन्स् न्यूटॉन्स् और प्रोटॉन्स् में विश्लेषण किया ही गया है। और इन परमाणुत्रयी के भी पुनः क्वाकर्स् (quarks) के घटक फॅर्मिनोस्, जो पुनः बेरिऑन्स् और मेजोन्स् घटकतया उत्प्रेक्षित हैं, उनमें विश्लेषण प्रस्तावित है। तो ऐसे विश्लेषणवाद की अतिरेकता भरी मनोवृत्ति द्वारा आधुनिक विज्ञान की विविध शाखाओं द्वारा मान्य पदार्थों का भी अन्यथा व्याख्यान कहाँ अशक्य है ?

अतः इन दिखलायी सुनायी देती तन्मात्राओं की उपलब्धियों के अलावा संकल्पजन्य देखने सुनने सूंघने छूने चखने आदि के अवबोधकलाप की तरह इच्छाजन्य चलने पकड़ने आदि के क्रियाकलापों में कृत्रिम अकृत्रिम जड़क्रियातीत इच्छा–अनिच्छा, रुचि–अरुचि, उत्प्रेक्षा–निश्चिति, उपलब्धि–अनुपलब्धि, सन्तोष–असन्तोष, विस्मय–अविस्मय, भीति–क्रोध, रति–अरति, विचार–ध्यान आदि के मनोभावों की वास्तविकता को भी इन्कारा नहीं जा सकता है।

उदाहरणतया मैं अपने कमरे में बैठा हुआ, चर्मचक्षु से तो कमरे के बाहर देखने में अक्षम हूँ। तब भी अपने ज्ञानचक्षु से मैं अपने कमरे के भीतर बैठा हुआ ही मुंबई, महाराष्ट्र, भारत, एशिया की पृथ्वी में बैठे होने ही अनुभूति भी कर सकता हुँ, नैयायिक इसे ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति का उचित उदाहरण मानें या न मानें। यह कृत्रिम वैज्ञानिक उपकरणों के बल पर तो शक्य नहीं। मान लें आज नहीं तो कल ऐसा भी कोई उपकरण आविष्कृत हो जाय, तब भी उसे प्रयोग में लाने या न लाने का निश्चय तो स्वयं मैं ही करूंगा; अतः उससे अधिक उपर वाले सोपानपर पुनः पराभौतिकी को अपने चिन्तनात्मक प्रशासन का वर्चस्व उपलब्ध होगा ही।

अतएव प्रत्यक्षावभासन की उपलब्ध दर्शनोपकरण की सामग्रियों के वश अवभासित होती विविधता के भीतर जो आत्मैक्य का अनुदर्शन कर पाता है, उसे शोक–मोह नहीं होता, ऐसा उपनिषद् हमें समझना चाहते हैं :– ''यदि सारे भूत–भौतिक पदार्थों को एक आत्मा के भीतर कोई जान पाता हो तो फिर शोक–मोह उसे सताते नहीं।[8]

इस औपनिषद् धारणा में कई चिन्तकों को आत्मकैवल्यवाद (Solipsiasm) होने की ऐकान्तिक धारणा का दोष स्फुरित हो सकता है। यहाँ, परन्तु, धैर्यपूर्वक लक्ष्य में रखने लायक तथ्य यही है कि उपनिषद् सर्वभूतों के द्वैत को मिथ्या असत् मानकर बाधित नहीं करना चाहता; प्रत्युत सर्वभूतों के द्वैतदर्शन में आत्मकैवल्य के अनुदर्शन की बात कह रहा है। एक भाषा में कहे गये किसी तथ्य का दूसरी भाषा में अनुवाद करने से मूलभाषा बाधित नहीं परन्तु अनूदित होती है। दिखलायी देते निखिल भूतों के द्वैत का आत्माद्वैत में देख पाने का उपदेश यहाँ अभिप्रेत है।

अतः जो परिणमनशील होता है वह हमें दिखलायी सुनायी आदि पड़ता है। मानवीय ज्ञान के इस प्रदेश को आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन पराभौतिकी की पराधीनता से छुड़ा कर वहाँ अपना राज्य या प्रशासन प्रस्थापित कर रहा हो या करना चाहता हो तो पराभौतिकी के चिन्तन ''यथा राजा तथा प्रजा'' न्याय के अनुसार इतरेतरोपम औचित्य ही प्रकट करता है।

(3)

इन प्रतिक्षण परिणामशील प्रापंचिक विषयों का यदि कोई अभिन्ननिमित्तोपादान प्रयोजनशाली अविकारी तत्त्व हो तो वह तो दिखलायी नहीं देगा। उसे तो देखना ही पड़ेगा। अतएव पराभौतिकी दर्शनशास्त्र द्वारा

संस्कृत नयनों से ही उसे देखा जा सकेगा। अतएव ऋग्वेद में कहा गया है "जो कुछ है या जो कुछ होने वाला है वह सभी कुछ यह पुरुष ही तो है। वह तो ऐसे अमृत का धनी है कि जो अन्न का रूप धारण करने पर भी तिरोहित नहीं हो पाता है"[9] अर्थात् अन्नात्मना भक्ष्य बनने के कारण चर्मचक्षु से नष्ट हुआ सा लगने पर भी श्रौतज्ञान की चक्षु से निहारने पर जो तिरोहित नहीं लगता हो ऐसा ब्रह्मरूप पुरुष अमृतत्व का स्वामी पदार्थ है! अतएव विनाशशील पदार्थों को उस अविनाशी की महिमा के रूप में बिरदाने को श्रुति कहती है "इतनी तो उसकी महिमा है अन्यथा वह पुरुष तो इससे कहीं अधिक है। क्योंकि उस तीन चरण वाले पुरुष के एक चरण में यह सारा मर्त्य विश्व समाया हुआ है और अमृत चरण तो द्युलोक में है"[10]।

यों अंश और अंशी परस्पर देश–काल–स्वरूप में परिच्छिन्न इन्स्टॅन्स् और देश–काल–स्वरूपभेदातीत रूल अथवा देश–काल–स्वरूप में परिच्छिन्न फैक्ट् और देश–काल–स्वरूपभेदातीत ट्रुथ् की तरह माने जाने चाहिये। अतएव जागतिक सारे नाम रूप और कर्म, देश–काल–स्वरूप के प्रदेशवश, परिच्छिन्न होते हैं। जबकि ब्रह्म को देश–काल–स्वरूप के परिच्छेद से अतीत माना गया है: "ब्रह्म सत्यस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, ब्रह्म अपरिच्छिन्नस्वरूप है", "द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव या जीव भी वासुदेव से भिन्न कोई तत्त्व नहीं होते"[11]।

अतएव श्वेताश्वतरोपनिषद् में "क्या–कैसा ब्रह्म कारण है ? हम कैसे जनमे हैं और जीवित रहते हैं ? हम कहाँ सम्प्रतिष्ठित हैं ? हमारे भीतर कौन अधिष्ठित है ? किस कारण के वश हमें जिन बातों में सुख नहीं मिलता उन्हीं बातों में हम जुत जाते हैं ? इस बारे में ब्रह्म विदों ने क्या–कैसी व्यवस्था समझायी है ?"[12] इस ऐसी जिज्ञासा के समाधानार्थ सुस्पष्ट शब्दों में "काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, योनि, पुरुष इस तरह के कारण सोचे–विचारे जाते हैं, क्या इनके परस्पर संयोग में आत्मभाववश आत्मा को सुखदुःख होता है ? या सुखदुःख के बारे में अनीश्वर होने के कारण आत्मा को भी स्वीकारना शक्य नहीं ? उन्होंने ध्यानयोग में परायण होकर देखा कि जितने भी कारण हो सकते हैं उन सभी काल, आत्मा आदि रूपों वाले तत्त्वों में वही एक देव अपनी आत्मशक्ति में निगूढ कालात्मयुक्त होकर अधिष्ठित रहता है।"[13] वचन में सृष्टिकारणतया समझ में आने वाले या प्रस्तुत होने वाले सभी तत्त्वों का अन्तर्यामी अधिष्ठाता ब्रह्म ही इन सभी नाम–रूप–कर्मात्मक तत्त्वों का अनन्य आधार है।

आधुनिक विज्ञान को यह ब्रह्म न भी समझ में आता हो और वह श्रुतिसंकलित कारणतत्त्वों में से अन्यतम या पृथक् ही कोई कारणत्त्व स्वीकारना चाहता हो, तब भी श्रुतिप्रतिपाद्य ब्रह्म के ही उसे कोई अनुपदिष्ट–अचर्चित नाम–रूप–कर्म के रूप में स्वीकार लेने में ब्रह्मवादी को घबराने जैसी कोई बात नहीं है। क्योंकि श्रुति के – "वह धीर पुरुष सारे रूपों को धारण कर और तदनुसारी नामों को भी धारण कर अवस्थित है"[14]– वचन में सम्भावित सकल–नाम–रूपों का विधारक ब्रह्म को तो माना ही गया है।

ऐसी स्थिति में पूर्वोल्लिखित "इतनी उसकी महिमा है"[15] वचन के आधार पर जो कुछ दिख रहा है वह उसका ही माहात्म्य है। अर्थात् उस महान् आत्मा के महान् आत्मा होने का साक्ष्य है। देखना हमें, परन्तु, उपनिषदों के अनुसार उसका तादात्म्य है।

इस ब्रह्म के ऐसे माहात्म्य और तादात्म्य का उपदेश श्रुतिवचनों में स्व–पर–सर्वानुभूतियों की अनेकविध मुद्राओं में दिया गया है :

क. "पहले तो यह ब्रह्म ही था। उसने अपने–आपको 'मैं ब्रह्म हुँ' ऐसे जाना, अतः सभी कुछ बन गया। अतएव आज भी जो इस तरह अपने–आपको ब्रह्म जान पाता है वह सभी कुछ बन जाता है"।

ख. "यह सभी कुछ एतदात्मक है। वह सत्य है। आत्मा तो वही है और तुम भी वही हो"।

ग. "यह सभी कुछ ब्रह्म है, अतः उस ब्रह्म की उपासना सब कुछ उसमें पैदा–लीन होता है, सभी उसमें सांस ले रहे हैं, शांत होकर ऐसी उसकी उपासना करनी चाहिये"[16]।

इन वचनों के अनुसार 'अहं' कारगोचर, 'त्वं' कारगोचर, 'इदं' कारगोचर, 'सर्व' कारगोचर यों दिखलायी देते सभी पदार्थों के बारे में पहले उन्हें एकमेव अद्वितीय ब्रह्म के माहात्म्य के रूप में देखने की औपनिषदी दृष्टि पनपनी चाहिये। अन्त में इन्हें उद्देश्य बनाकर इनके ब्रह्म होने के विधान द्वारा इनका और ब्रह्म का तादात्म्य समझाया गया है।

अतएव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य माहात्म्यबोधपूर्वक प्रकट होती तादात्म्यरति को भक्ति के रूप में परिभाषित और उद्‌बोधित करना चाहते हैं। जगत् को ब्रह्म के अंश या कार्य के रूप में जानना ब्रह्म के माहात्म्य को जान लेने की बात है परन्तु जगत् के साथ ब्रह्म का तादात्म्य समझ आने पर ब्रह्म के बारे अनन्यात्मासक्ति पनपती है। तदर्थ अपना यानि की सकल

जगत् का ब्रह्म के साथ तादात्म्य जानना भी आवश्यक होता है (द्र.सुबो. 2।9।35 तथा त.दी.नि.1।42)।

दूसरे शब्दों में कहना हो तो दिखलायी देते जगत् को ब्रह्म के माहात्म्य के रूप में देख पाने पर ही अंश और अंशी के बीच रहा तादात्म्य बुद्धिगत या हृदयारूढ़ हो पाता है।

(4)

अतएव वेदान्त के विभिन्न प्रस्थानों में, ब्रह्म के साथ जगत् का अद्वैत है या द्वैत, इस विषय को लेकर पर्याप्त परस्पर असहिष्णु विचार भेद प्रवर्तित हुए हैं। ब्रह्मवादी दृष्टिकोण से उस विवाद या विमति का मूल ब्रह्म के माहात्म्य या अभेद के बारे में अतिरेकवादी दृष्टिकोण ही है। अतः माहात्म्य और तादात्म्य दोनों को अंगीकार करने पर अर्थात् तादात्म्यसहिष्णु माहात्म्य और माहात्म्यसहिष्णु तादात्म्य यदि स्वीकार्य बन पाये तो ईशावास्योपनिषद् में इसे कैसे प्रतिपादित किया गया, उसे भी यहाँ देख लेना प्रासंगिक होगा :

"जो अविद्या के उपासक होते हैं वे तो अन्धंतम नरक में प्रवेश करने वाले हैं। परन्तु जो विद्या में ही रत रह जाते हैं वे तो उससे भी अधिक अंधेरे में प्रवेश करने वाले होते हैं। अतः जो उसे विद्या की तरह अविद्या के साथ जान पाते हैं, वे अविद्या के कारण मृत्यु को पार करके विद्या द्वारा मोक्ष प्राप्त कर पाते हैं"[17]।

यहाँ सुस्पष्ट शब्दों में अविद्या और विद्या को परस्पर असहिष्णुतया उपस्थापित करने के बजाय उभयपूरकतया प्रस्तुत किया गया है। ब्रह्मबोधरहित अहंकार अथवा आत्मरति अविद्या है। और यह चेतना को अन्धंतमगामिनी बना देती है। तादात्म्यबोधरहित ब्रह्म का माहात्म्यबोध विद्या तो अवश्य है परन्तु उसे अन्धंतम से भी अधिक दुर्गति प्रदान करने वाला माना गया है। अतः अपने आविद्यक अहंकार में झलकने वाली आत्मरति के द्वारा जो ब्राह्मिक तादात्म्य अनुभव कर पाता हो अथवा ब्राह्मिक माहात्म्य का स्वीकार जो अपने आविद्यक अहंकार के साथ स्वीकार पाता है, वहीं आविद्यक अहंकार के सहारे स्वयं की मर्त्यता होने की भीति से मुक्त हो कर ब्राह्मिक तादात्म्य के बोधवश ब्राह्मिक रमण के हिस्सा होने की आवश्वस्तता के वश अमृतत्व को प्राप्त कर पाता है।

यूरोपीय चिन्तक पास्कल का एक विधान है कि यह विशाल निष्ठुर ब्रह्माण्ड यदि मानव को कभी निःशेषतया विनष्ट भी कर देगा तो भी महान्

तो मानव को ही मानना चाहिये, क्योंकि मानव यह जान पाता है कि उसे निःशेष किया जा रहा है जबकि ब्रह्माण्ड यह जान नहीं पायेगा कि उसमें प्रकट होने वाली कितनी महत्त्वपूर्ण संरचना उसने खतम कर दी ! इस तरह की विचारधारा में मानवीय अहंकार का ब्रह्माण्ड के इदंकार से तादात्म्य अनुभव करने के बजाय केवल माहात्म्य ही स्वीकारा जा रहा है, वह भी ब्रह्माण्ड के द्वारा मानव के नष्ट होने की संभावना और भीति के साथ !

ब्रह्मवाद, परन्तु, मानवीय बुद्धि व्यवहार और हृदय में ऐसी अवधारणा प्रस्थापित करना चाहता है कि ब्रह्म को अपना अंशी–उपादान मानने पर स्वयं के नाश के त्रास एवं कुण्ठा से मुक्ति मिल सकती है। क्योंकि एकमेव अद्वितीय ब्रह्म के माहात्म्य को भलीभांति जान लेने पर वही क्षणिक क्षयिष्णु क्रियारूप में प्रकट हुआ है और वही अक्षय सनातन चेतना के रूप में उसका साक्षी भी बनता है। और ऐसा तथ्य अवगत होने पर भक्ष्य अन्न की नश्वरता और उसके कारण ज्योतिरूप भक्षक अन्नाद की अन्नमयता के कारण प्रकट होती अन्धकारोपमा मृत्युभीति और कुण्ठा पर काबू मिल सकता है।

महर्षि यास्क ने " 'अन्ध' नाम अन्न का है... तमस् को भी 'अन्ध' कहा जाता है, क्योंकि उसमें न ध्यान शक्य होता है और न दर्शन ही"[18], यों अन्न और अन्धकार दोनों में 'अन्ध' पद की शक्ति स्वीकारी है। इसी तरह "मृत्यु तो असत् है अमृत सद् होता है", "मृत्यु निश्चय ही तमोरूप होती है अमृत तो ज्योतीरूप होता है", "प्रधान क्षर होता है अक्षर अमृतरूप होता है"[19], इन वचनों में 'मृत्यु'–'अमृत', 'तमो–ज्योति', 'असत्'–'सत्' आदि पदयुगलों में इतरेतरार्थव्यावर्त्तकता प्रतीत तो अवश्य ही होती है। औपनिषद् ब्रह्म के भीतर, परन्तु, ये ही पदार्थ अपना इतरेतरसहिष्णु स्वरूप भी दरसाते ही हैं। यथा बृहदारण्यकोपनिषद् एवं भगवद्गीता में सुस्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि "ब्रह्म के दो रूप होते हैं : वह मर्त्यरूप भी होता है और अमृतरूप भी, प्रकट सत् भी होता है और अप्रकट त्यत् भी", "अमृत भी और मृत्यु भी सद् और असत् भी मैं ही हुँ", "सर्वहारी मृत्यु भी मैं हुँ और होने वालों का उद्भव भी"[20]।

अतः एक ओर ऐसे वचन और दूसरी ओर – "जो ऐसे समझता है कि ब्रह्म का कहीं भी अस्तित्व ही नहीं वह तो स्वयं ही असत् हो जाता है"[21]– ऐसे वचनों को एक साथ पढ़ने पर कुछ असंमजसता भी भासित हो सकती है। स्वयं इसी उपनिषद् में, किन्तु, एक नितान्त मननीय समाधान भी प्रस्तुत हुआ है : "उसने कामना की कि वह बहुत बन कर प्रकट हो जाय... उसने

तप किया और तप द्वारा उसने यह सभी कुछ प्रकट किया... सत् और असत्... विज्ञान और अविज्ञान, सत्य और अनृत भी''[22]।

अतः कहा जा सकता है कि ब्रह्म स्वरूपतः असत् हो नहीं सकता परन्तु एतावता लीलया वह असत् बन न पाता हो उसे इतना असमर्थ मानने की भी कोई आवश्यकता नहीं है ! यही बात मृत्यु, तम अन्धकार या अविद्या के बारे में भी कही जा सकती है। प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि सदैकरस ब्रह्म असत् कैसे बन पायेगा ?

इस बारे में महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कुछ इस तरह की प्रक्रिया दरसाते हैं कि सच्चिदानन्द ब्रह्म अपने आनन्दांश के तिरोधान द्वारा जैसे लीलया अज्ञ जीवात्मा बन सकता है, अथवा जैसे अपने चिदंश के तिरोधान द्वारा जड़ प्रकृति और उसका विकाररूप पांचभौतिक प्रपंच भी बन सकता है, वैसे ही संदश के भी तिरोधान द्वारा, अर्थात् स्वयंपानुपाती नहीं किन्तु स्वसामर्थ्यानुपाती नाम–रूप–कर्म वह प्रकट कर सकता है। ऐसे नाम–रूप–कर्म सदुपादानक न होने के कारण 'असत्' कहलाते हैं। इसी तरह तमस् या अन्धकार या अविज्ञान अविद्या भी, अपने चिदंश या आनन्दांश के तिरोधान द्वारा सच्चिदानन्द ब्रह्म प्रकट कर सकता है। इसी तरह मृत्यु तो प्राणशक्ति और अन्नमय शरीर के परस्पर वियोजन के अलावा और कुछ नहीं। वह भी ब्रह्म अपने द्वारा परिगृहीत शरीररूप में प्रकट करने में सर्वसमर्थ है ही।

(5)

निष्कर्षतया विभिन्न मतवादों को निरन्तर उलझाये रखने वाले कतिपय प्रमुख परस्पर विरोधाभासी मुद्दों पर, उदाहरणतया, [1]विद्या अविद्यासहिष्णु हो सकती है या नहीं ? [2]कालातीत नित्यता कालिक–अनित्यतासहिष्णु हो सकती है या नहीं ? अर्थात् अनादिता जन्मसहिष्णु हो सकती है या नहीं ? [3]अमृतता मृत्युसहिष्णु हो सकती है या नहीं ? [4]एकमेव अद्वितीय परमतत्त्व अनेकतासहिष्णु हो सकता है या नहीं ? [5]ब्रह्माद्वैतवाद पारमार्थिक–अनेकदेववादसहिष्णु हो सकता है या नहीं ?[6] परमात्मा के प्रति भक्तिभाव होने पर मुक्ति या मुक्तात्मा संसारसहिष्णु हो सकते हैं या नहीं ?[7] अवाच्य अज्ञेय होने के कारण सर्ववादानवसर ब्रह्म नानावादानुरोधि हो सकता है या नहीं ? (द्र. निबन्ध के अन्त में संकलित मूलवचन) इत्यादि, ऐसे इन विवादस्पद मुद्दों के बारे में दो विरोधाभासी तथ्यों में एक ब्राह्मिक निखिलरूपता के अंगीकार द्वारा सहिष्णुता का तात्त्विक आधार ही ब्रह्मवाद प्रस्तुत करना चाहता है।

वैसे ब्रह्मवाद की तरह शून्यवाद और उसका एकदेशी अजातिवाद तथा स्याद्वाद के पक्षधर चिन्तकों ने भी इस दिशा में पर्याप्त वैचारिक पुरुषार्थ प्रकट किया है।

इसी तरह हम देख सकते हैं कि ताओवाद की तरह शन्यूवाद भी, अपनी द्विविध विभाषा के अन्तर्गत मूलतः, [क]वादशून्य होने की सिद्धावस्था की चेतना में तो सहिष्णुता दरसा सकता है। साधकावस्था में, किन्तु, प्रत्येक वाद का परिहार ही उसके द्वारा अभिप्रेत होने से असहिष्णुता भी प्रकट करता ही है। [ख]परमार्थ सत् को सदसदुभयानुभयकोटियों से विलक्षणतया मान्य रखने की द्वितीय रीति के अन्तर्गत या तो शून्यवादी को वैतण्डिक मुद्रा धारण कर घोर असहिष्णुता प्रकट करनी पड़ती है या फिर चतुष्कोटिविनिर्मुक्त परमार्थ के दरवाजे से निचले संवृतिसत्य के प्रतिपादक होने के दरवाजे पर अन्यमतों की पदावनति करके अपनी यत्–किंचित् सहिष्णुता दरसानी पड़ती है। यह निचला दरवाजा परन्तु शून्यवादियों की तरह उसे न मानने वाले मतों को मान्य होना कठिन ही लगता है। श्रीगौड़पाद का अजातिवाद तो कुछ शून्यवाद का ही सगोत्री एकदेशीयमत है।

जहाँ तक स्यात्वाद का प्रश्न है तो उसकी भी दो विभाषयें दिखलायी देती हैं : 1. अनेकान्तवाद और 2. सप्तभंगिवाद। सप्तभंगी के अन्तर्गत मौलिक रूप में तीन कोटियाँ मान्य रखी गयी हैं ''[1]सत् ही है, [2]सत् है, [3]सत् भी हो सकता है, यों तीन तरह से अर्थ का भान होता है। प्रथम प्रकार को [2]दुर्नीति जानना चाहिये, दूसरे प्रकार को [2]नय तथा तीसरे प्रकार को [3]प्रमाण''[23]। इस वचन के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि अन्यवादियों के मतों के प्रति सहिष्णुता के बारे में भी जैन चिन्तकों को स्याद्वादी या अनेकान्तवादी मुद्रा ही अभिप्रेत है। वही मत, क्योंकि, सावधारण कहा जाता हो तो दुर्नीति बन जाता है और वही पुनः अनिश्चयद्योतक अवधारणरहित स्वीकारे जाने पर नय और स्याद्वाद या अनेकान्तवाद के अंगतया स्वीकारे जाने पर प्रमाणतया भी मान्य हो पाता है। अतः हम देख सकते हैं कि ऐसा अभिप्राय स्वीकार करने पर या तो जैन मत प्रवेश अनिवार्य हो जाता है अन्यथा जैनचिन्तन सहिष्णुता प्रकट नहीं कर पाता। वैसे यह सहज संभव है कि अपने प्रारम्भिक चिन्तन के काल में आर्हतों का मत सप्तभंगिवादी न होकर केवल अनेकान्तवाद का ही उपोद्बलक रहा होगा। वह तो निश्चय ही सहिष्णुता का उचित रूप में समादर होगा, परमार्थ सत्य को आग्रिहलतया अनेकान्त ही मानने पर भार दिया जाये तो।

इनकी तुलना में एकत्व और अनेकत्व के बारे में सप्तविध भंगिमाओं के अन्तर्गत तृतीय उभयकोटि तथा ऐसे एकत्व–अनेकत्वविशिष्ट नाम–रूप–कर्मों के बारे में सप्तविध भंगिमाओं से किसी भी एक भंगिमा में अन्तर्भूत न होने वाले तादात्म्य को स्वीकारने वाले श्रौत चिन्तन के ये उद्‌गार मननीय लगते हैं :

क. "उसे 'इन्द्र' 'मित्र' 'वरुण' 'अग्नि' कहते हैं, इसी तरह सुन्दर पंखों वाला 'गरुड़' भी। एक ही सत् का विप्र बहुधा प्रतिपादन करते हैं, 'अग्नि' 'यम' और मातरिश्वा' कह कर"।

ख. "एक ही अग्नि बहुत प्रकारों से प्रज्वलित होता है, एक ही सूर्य विश्व में अनुप्रविष्ट होकर सब कुछ बन जाता है, एक ही उषा यहाँ सभी को विविधतया भासित करती है, एक ही यह सब कुछ बन गया है"।

ग. "जहाँ अनेक लोकों को और अनेक कोशों को तथा जलों को लोग ब्रह्म जानते हैं असत् हो या सत् हो सभी कुछ उसके अन्दर है... जिसके भीतर भूमि अन्तरिक्ष द्युलोक अध्याहित रहते हैं, जहाँ अग्नि चन्द्रमा सूर्य वायु अर्पित रहते हैं... जहाँ अमृत और मृत्यु भी उस एक ही पुरुष में अधिसमाहित रहते हैं... जहाँ बाहर आदित्य ग्यारह रुद्र और आठ वसुगण समाहित रहते हैं। जहाँ भूत जहाँ भावी और सभी लोक प्रतिष्ठित रहते हैं... तैंतीस देवता जिसके अंग में गात्रों के रूप में विभक्त रहते होने पर भी ब्रह्मविद् उन तैतींस देवताओं के एक ही होने की अनुभूति जहाँ कर पाते हैं"।

घ. "जो एक अव्यक्त और अनन्तरूप है। वही सबसे अधिक पुराणतम है... वही अग्नि वही वायु वही सूर्य वही चन्द्रमा वही अमृत, शुक्र और वही जल तथा प्रजापति भी है।"[24]

यह व्यक्तिविशेष की अभिमति या मान्यता के सब्जेक्टिव् प्रामाण्य या अप्रामाण्य से निरपेक्ष स्वयं ओब्जेक्टिवली प्रमेय के एक और अनेक, इसी तरह वास्तविक और भावानुरूप, होने के अंगीकार में उभरती सहिष्णुता एक विलक्षण सहिष्णुता है। अतएव इस श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्मवाद को सहृदयता के साथ विचारने की आवश्यकता पहले भी थी आज भी है और सर्वदा रहेगी ही।

(मूलभूत श्रौतप्रश्न)

"वह कौन सा वन था, वह कौन सा वृक्ष था जिससे ये द्युलोक और भूलोक तराशे गये हैं ? मनीषियों कभी अपना मन लगाकर किसी से पूछ कर तो देखो कि इन भुवनों को धारण करने वाला कहाँ अधिष्ठित है ?"

(उसका श्रौतसमाधान)

"वह वन ब्रह्म था, वृक्ष भी ब्रह्म था जिसने इन द्युलोक और भूलोक को तराशा है ! मनीषियों मनोयोग के साथ यह मैं कह रहा हुँ कि भुवनों को धारण करने वाला ब्रह्म में अधिष्ठित है !"[25]

63, स्वस्तिक सोयायटी, 4 था रस्ता
जुहुस्कीम, पारले, मुंबई : 400056

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. *"आप्यायन्तु मम अंगानि वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रम् अथो बलम् इन्द्रियाणि सर्वाणि। सर्वं ब्रह्म औपनिषदम्। मा अहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोद्। अनिराकरणं मे अस्तु। तद् अनिराकरणं मे अस्तु। तद् आत्मनि निरते ये उपनिषत्सु धर्माः ते मयि सन्तु मयि सन्तु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः" (केनोप.शां.पा.)।*
2. *"कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म... नतु 'वस्तु एवं नैवम् अस्ति नास्ति' इति वा विकल्प्यते। विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः। न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षं, किन्तर्हि ? वस्तुतन्त्रमेव तत्... एवं भूतवस्तुविषयाणां प्राणाण्यं वस्तुतन्त्रम्" (ब्र.सू.शां.भा. 1/1/2)।*
3. *क. "यो वै सप्तदश प्रजापतिं यज्ञम् अन्वायत्तं वेद" (तैत्ति.संहि. 6/11/1)। ख. "यज्ञो भूत्वा यज्ञम् आसीद स्वां योनिम्", "विष्णुः यज्ञो देवताः च" (तैत्ति. ब्राह्म. 2/5/8, गोप.ब्राह्म. 2/1/12)।*
   ग. "त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि... रूपाणि... कर्माणि बिभर्ति। तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा, आत्मा उ एकः सन् एतत् त्रयम्..." (बृह.उप. 1/6/1–3)।
4. *"भावप्रधानम् आख्यातं सत्त्वप्रधानानि... 'अदः' इति सत्त्वानाम् उपदेशो 'गौः'–'अश्वः'–'पुरुषो'–'हस्ती' इति, 'भवति' इति भावस्य 'आस्ते'–'शेते'–'व्रजति'–'तिष्ठति' इति... षड् भावविकाराः भवन्ति इति वार्ष्यायणिः 'जायते' ' अस्ति' 'विपरिणमते' 'वर्धते' 'अपक्षीयते' 'विनश्यति'... अतो अन्ये भावविकाराः एतेषामेव विकाराः भवन्ति इति ह स्म आह" (निरु.निघ. 1/1/1–3)।*
5. *"ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्मण हुतं ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना" (भग.गीता. 4/24)।*
6. *"अहस्तानि सहस्तानाम्, अपदानि चतुष्पदां, फल्गूनि तत्र महतां, जीवो जीवस्य जीवनं, भगवान् तदिदं भगवान्... एकः आत्मा आत्मनां स्वदृक्, अन्तरो अनन्तरो भाति पश्य तं मायता उरुधा", "अनुसर्गं यथा शक्त्या ससर्ज भगवान् परः... अन्तः समुद्राद् उन्मग्नां ददृशुः गां द्रुमैः वृतां, द्रुमेभ्यः क्रुध्यमानाः ते... वायुम् अग्निञ्च ससृजुः तदिदधक्षया... ताभ्यां निर्दह्यमानान् तान् उपलभ्य... प्रशमयन्निव 'मा*

द्रुमेभ्यो महाभागा दीनेभ्यो द्रोग्धुम् अर्हथ, विवर्धयिषवो यूयं प्रजानां पतयः स्मृताः। अहो प्रजापतिपतिः भगवान् हरिः अव्ययः वनस्पतीन् औषधीः च ससर्ज ऊर्जामिषं विभुः, अन्नं, चराणाम् अचराः हि, अपदः पादचारिणाम्, अहस्ता हस्तयुक्तानां, द्विपदां च चतुष्पदः। यूयंच पित्रा अन्वादिष्टाः देवदेवेन च अनघाः प्रजासर्गाय हि कथं वृक्षान् निर्दग्धुम् अर्हथ ? आतिष्ठत सतां मार्ग कोपं यच्छत दीपितम्''। (भाग. पुरा.1/13/46–47, 6/4/4–11)।

7. ''अहम् अन्नम्... अहम् अन्नादो... अहम् अन्नम् अदन्तं माम् अद्मि। अहं विश्वं भुवनम् अभ्यभवाम। सुवर्णज्योतिः, यः एवं वेद'' (तैत्ति. उप. 3/4–6)।
8. ''यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैव अभूद् विजानतः तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वम् अनुपश्यतः'' (ईशा. उप. 7)।
9. ''पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यत् च भव्यम्। उव अमृतत्वस्य ईशानः यद् अन्नेन अतिरोहित'' (पुरु.सू.1)।
10. ''एतावान् अस्य महिमा, अतो ज्यायान् च पुरुषः। पादो अस्य इह भूतानि त्रिपादस्य अमृतं दिवि'' (यथापूर्वोद्धत 2)।?
11. ''सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म'', ''द्रव्यं कर्म च कालः च स्वाभावो जीवएव च वासुदेवात् परो ब्रह्मन् नच अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वतः'' (तैत्ति.उप.2/1/14)।
12. ''किं कारणं ब्रह्म ? कुतः स्म जाता जीवामः ? केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः? अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ?'' (श्वेता.उप.1/1)।
13. ''कालः स्वाभावो नियतिः यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुषः इति चित्याः, संयोगः एषां नतु आत्मभावाद् आत्मापि अनीशः सुखदुःखहेतोः, ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैः निगूढां यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तानि अधितिष्ठति एकः'' (श्वेता.उप. 1/2/–3).
14. ''सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते'' (पुरु?सू. 7)।
15. ''एतावान् अस्य महिमा'' (यथापूर्व)।
16. क. ''ब्रह्म वा इदम् अग्रे आसीत् तद् आत्मानमेव अवेद 'अहं ब्रह्म अस्मि' इति तस्मात् सर्तम् अभवद्। तदिदमपि एतर्हि य एवं वेद 'अहं ब्रह्म अस्मि' इति स इदं सर्वं भवति'' (बृह.उप. 1/4/10)।

    ख. ''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्। तत् सत्यम्। स आत्मा तत् त्वम् असि'' (छन्दो.उप. 6/8/7)।

    ग.''सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान् इति शान्तः उपासीत्'' (छान्दो.उप. 3/14/2)।
17. ''अन्धंतमः प्रविशन्ति ये अविद्याम् उपासते ततो भूयइव तमो ये उ विद्यायां च अविद्यां च यः तद् वेद उभयं सह, अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते'' (ईशा.उप. 11)।
18. ''अन्ध'' इति अन्ननाम... तमोऽपि 'अन्ध' इति उच्चते न अस्मिन् ध्यानं न दर्शनम्'' (निघ. निरु. 5/1/1–2)।
19. ''मृत्युर्वा असत् सद् अंमृतम्'', ''मृत्युर्वै तमो ज्योतिः अमृतम्'', ''क्षरं प्रधानम् अमृतम् अक्षरम्'' (बृह.उप. 1/3/28, श्वेता। उप 1/10)।

20. "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मर्त्यं च अमृतं च, सत् च त्यत् च", "अमृतं चैव मृत्युः च सद् असत् च अहम्", "मृत्युः सर्वहारः च अहम् उद्भवः च भविष्यताम्" (बृह.उप. 2/3/1, भग.गीता. 9/19, 10/34)।

21. "असन्नेव स भवति 'असद् ब्रह्म' इति वेद चेत्" (तेत्ति.उप. 2/6)।

22. "सो अकामयत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति... स तपः तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत... सत् च... विज्ञानं च अविज्ञानं च सत्यं च अनृतं च" (तैत्ति.उप. 2/6)।

23. "[1]सदेव [2]सत् [3]स्यात् सद् इति त्रिधा अर्थो मीयेत [1]दुर्नीत–[2]नय–[3]प्रमाणैः" (अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका 28)।

24. क. "इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम् आहुः अथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान्। एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः" (ऋक्संहि.2/3/21)।
ख. "एकएव अग्निः बहुधा समिद्धः एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः, एकैव उषा सर्वम् इदं विभाति, एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" (ऋक्संहि. 6/4/28)।
ग. "यत्र लोकान् च कोशान् च आपो ब्रह्म जना विदुः असच्च यत्र सच्च अन्तः .. यस्मिन् भूमिः अन्तरिक्षं द्यौः यस्मिन् अध्याहिता, यत्र अग्निः चन्द्रमा सूर्यो वातः तिष्ठन्ति अर्पिताः... यत्र अमृतं मृत्युः च पुरुषे अधि समाहिते... यत्र आदित्याः च रुद्राः च वसतः च समाहिताः भूतं यत्रं भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिाः... यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवाः अंगे गात्राः विभेजिरे तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवान् एके ब्रह्मविदो विदुः" (अथर्वसं. 10/21–23)।
घ."यद् एकम् अव्यक्तम् अनन्तरूपं विश्वं पुराणं... तदेव अग्निः तद् वायुः तत् सूर्यः तदु चन्द्रमा तदेव शुक्रम् अमृतं तद् आपः स प्रजापतिः" (महाना.उप. 1/1/7)।

25. "किंस्विद् वनं क उ स वृक्षः आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ? मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यद् अध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ? (ऋग्वेद. 10/81/4)।
ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्षः आसीद् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ! मनीषिणा मनसा वि ब्रवीमि वो ब्रह्म अध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ! (तैत्ति.ब्रा.2/8/9/7)।
(विवादास्पद सात मुद्दों के श्रुतिआदि शास्त्रोकें द्रष्टव्य वचन)
1. (क)"विद्यां च अविद्यां यः तद् वेद उभयं सह" (ईशा.उप.11), (ख) "यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति विद्यादयो विविधशक्तयः आनुपूर्व्यात्, तद् ब्रह्म विश्वभवम् एकम् आद्यम् आनन्दमात्रम् अविकारम्..." (भाग.पुरा. 4/9/16)।
2. (क)"अजायमानो बहुधा विजायते" (तैत्ति.आर.3/13/3) (ख) "आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजते प्रभुः, त्रायते त्राति विश्वात्मा, ह्रियते हरति ईश्वरः, तस्माद् नहि आत्मनो अन्यस्माद् अन्यो भावो निरूपितः"
(भाग.पुरा. 11/28/6/7)।
3. "मृत्युः सर्वहरः च अहम् उद्भवः च भविष्याम" (भग.गीता. 10/34)।
4. "द्रव्यं कर्म च कालः च स्वाभावो जीवएव च यदनुग्रहातः सन्ति च सन्ति यदुपेक्षया। एको नानात्वम् अन्विच्छन्... देवो मायया व्यसृजत् त्रिधा" (भाग.पुरा. 2/10/12–13)।

5. (क)"एको देवः बहुधा निविष्टो अजायमानो बहुधा विजायते तमेतम् 'अग्निम्' इति आध्वर्यवः उपासते, 'यजुः' इति एषः हि इदं सर्वं युनक्ति, 'साम' इति छन्दोगाः एतस्मिन् हि इदं सर्वं प्रतिष्ठितम्, 'विषम्' इति सर्पाः, 'सर्पः' इति सर्पविदः, :ऊर्ग्' इति देवाः, 'रयिः' इति मनुष्याः, 'माया' इति असुराः, 'स्वधा' इति पितरः, 'देवजनः' इति देवजनविदः, 'रूपम्' इति गन्धर्वाः, 'गन्धर्वः' इति अप्सरसः। तं यथा–यथा उपासते तथैव भवति" (ख) "यो–यो यां–यां तनुं भक्तः श्रद्धया अर्चितुम् इच्छति तस्य–तस्य अचलां श्रद्धां तामेव विदधामि अहम्। स तया श्रद्धया युक्तः तस्य आराधनम् इष्यते लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्" (भग. गीता.7/21)।

6. (क) "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन इति। एतं ह वाव न तपति किम् अहं साधु न अकरवं किम् अहं पापम् अकरवम् इति" (तैत्ति.उप.2/9), (ख) "गृहेषु आविशतां चापि पुंसां कुशलकर्मणां मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहाः मताः" (भाग.पुरा.4/30/19)।

7.(क) " 'भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः दृश्यैः बुद्ध्यादिभिः द्रष्टा लक्षणैः अनुमापकैः' : प्रतिपुरुषं प्रतिविषयं शास्त्राणि प्रसृतानि। तानि न सर्वथा बाधितविषयाणि, परस्परोपयोगात्। भगवान् तैः सर्वैरेव सर्वभूतेषु लक्षितः लक्षणया ज्ञापितः। नैयायिकैः मीमांसकैः क्रियात्वेन, वेदान्तैः आत्मत्वेन, सांख्यादिभिः करणत्वेन, अन्यैः च तद्भेदैः ज्ञानत्वेन, ज्ञानत्वेन च अन्यैः ज्ञानाधिष्ठातृत्वेन च। सर्वैरेव भगवान् एकदेशे लक्षितो अन्धहस्तिवत्। अनुभवेन युक्त्या च..." (भाग.सुबो. 2/2/35), (ख) "श्रुत्यादिभिदेषु नानाप्रकारेण प्रतिपादितत्वाद् अन्योन्यविरोधाद् न किंचित् प्रमाणं ब्रह्मणि भविष्यति इति आशंक्य आह 'सर्ववादानवसरम्' इति। वस्तुतः श्रुतौ नानावाक्यानाम् एकवाक्यता निरूपिता सर्वभवनासमर्थ्येन विरुद्धधर्माश्रयत्वात्... एकैको वादो ब्रह्मणः एकैकधर्मप्रतिपादकैकवाक्यशेषइति भगवान् तान् सर्वानेव अनुसरति" (त.दी.नि. 1/70)।

ब्रह्मजिज्ञासा और मोक्षसंप्रत्यय

नारायण शास्त्री द्राविड़

अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य की विस्तृत तत्त्वविचारपूर्ण प्रस्तावना में आचार्य शंकर ने ब्रह्मजिज्ञासा के (जिसे हम 'तत्त्वजिज्ञासा' इस सामान्य संज्ञा से भी निर्दिष्ट कर सकते हैं) अधिकारी के लिये अनिवार्यतया अपेक्षित चार विशेषताओं का उल्लेख किया है। ये चार विशेषतायें नित्यानित्यवस्तु विवेक, शम, दम तितिक्षा, श्रद्धा इत्यादि कायिक तथा मानसिक गुण, इहामुत्रार्थ–फल भोगविराग एवं मुमुक्षा या मोक्षप्राप्ति की इच्छा ये हैं। इन विशेषताओं से संपन्न जिज्ञासु ही ब्रह्मज्ञान प्राप्ति का अधिकारी हो सकता है। प्राचीन भारतीय दार्शनिक विचार परिपाटी के अनुसार किसी भी दार्शनिक ग्रंथ के प्रारंभ में ग्रंथ से संबद्ध विषय, प्रयोजन, संबंध तथा अधिकारी इन अनुबंध चतुष्टयों का ग्रंथकर्ता के द्वारा विवेचन आवश्यक माना जाता है जिसको शंकराचार्य ने भी यथावत् प्रस्तुत किया है। लेकिन सभी दर्शनों या मत के प्रारंभ में अनुबंध चतुष्टय विवेचन आवश्यक नहीं समझा जाता। जैसे धर्माधर्म या योग के विवेचक मीमांसा तथा योगदर्शन के मूलग्रंथों में इस विवेचन की विशेष आवश्यकता नहीं है क्योंकि इन विषयों का ज्ञान व्यक्ति मात्र के लिये आवश्यक है। अपने आपही प्रत्येक व्यक्ति को इन विषयों की जानकारी प्राप्त करने के लिये सन्नद्ध रहना आवश्यक है, ऐसी सामान्य मान्यता है। किन्तु ब्रह्मज्ञान के संबंध में यह बात कल्पनार्ह ही नहीं है। सांसारिक जीवनयापन करने के लिये किसी भी व्यक्ति को न ब्रह्मज्ञान की आवश्यकता होती है न उसके प्रति आकर्षण की। ठीक इसके विपरीत सभी सांसारिक तथा पारलौकिक आकर्षणों के क्षीण या नष्ट हो जाने पर ही साधक के मन में ब्रह्म जिज्ञासा का उदय होता है। इस बात को ध्यान में रखने पर एक संभाव्य प्रश्न का उत्तर प्राप्त हो जाता है। प्रश्न यह है कि तत्त्वजिज्ञासा से ही प्रेरित होकर कई मेधावी व्यक्ति दर्शन के अध्ययन, मनन तथा उस पर ग्रंथलेखन करने के लिये प्रवृत्त होते बराबर दिखाई देते हैं। वस्तु स्थिति जब ऐसी है तब उक्त चार विशेषताओं की ब्रह्म जिज्ञासा के लिये आवश्यकता मानना क्या ब्रह्म जिज्ञासा का अतिरंजन नहीं है ? इस प्रश्न का उत्तर उक्त

चार विशेषताओं के अंतर्गत चौथी विशेषता के द्वारा दिया गया है। यह विशेषता मोक्ष की अर्थात् सर्वविध सांसारिक बन्धनों से मुक्ति की इच्छा है। ब्रह्म प्राप्ति के लिये यह इच्छा सर्वतोभावेन आवश्यक है। शेष तीन विशेषताओं में भी इस इच्छा का समावेश है। सभी अनित्य बातों के प्रति उनकी नश्वरता के कारण उपेक्षाभाव, शरीर तथा मानसिक भोगों के प्रति अनासक्ति, शम दमादि के द्वारा सब प्रकार के कष्टों में अविचलित रहना एवं ऐहिक तथा पारलौकिक सुखों के प्रति वितृष्णा ये उक्त तीन विशेषतायें ब्रम्हज्ञानजन्य मोक्ष के ही पूर्वरूप माने जा सकते हैं।

यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि ब्रह्मजिज्ञासा के लिये शंकराचार्य ने दार्शनिकों में प्रायः दिखाई पड़ने वाली तत्त्वमीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय जैसी प्रतिबद्धताओं का ही (जो मानसिक बंधन के ही विविध रूप हैं) परित्याग आवश्यक न बतलाकर सभी संभाव्य सांसारिक प्रतिबद्धताओं या बंधनों का पूर्ण परित्याग आवश्यक बतलाया है। इसका मतलब यह नहीं कि ब्रह्मजिज्ञासा व्यक्ति अपनी मौलिक जैविक आवश्यकताओं–जैसे खाना, पीना, चलना फिरना, विश्राम करना आदि को त्याग कर ही तत्त्वज्ञान प्राप्ति कर सकता है। तत्त्वज्ञान प्राप्ति के अनन्तर भी तत्त्वज्ञ की सामान्य जीवनचर्या चल सकती है यह बात अद्वैत वेदान्त को पूर्णतया स्वीकार्य है और इस बात की सत्यता के प्रमाण स्वयं शंकराचार्य हैं जो महान् तत्त्वज्ञ या ब्रह्मज्ञ होते हुए भी सामान्य सुसंस्कृत जीवनयापन के लिये उपयुक्त आचार धर्मों का भी प्रचार करने के उद्देश्य से सारे भारत में आजीवन भ्रमण करते रहे। दूसरा उक्त तथ्य का अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रमाण प्राचीन कालिक मिथिला के सुप्रसिद्ध राजा जनक थे जो एक कुशल शासक होते हुए भी एक महान् तत्त्वज्ञ थे। एक बार ऐसा हुआ कि जनक अनेक ज्ञानियों के साथ तत्त्व–चर्चा कर रहे थे। इस बीच एक दूत ने हड़बड़ी में आकर राजा को समाचार दिया कि मिथिला नगरी में चारों ओर से आग लग गयी है। राजा ने शान्त चित्त से समाचार सुन लिया और दूत को अग्रिम कार्यवाई का आदेश देकर विदा कर दिया। तदनंतर उपस्थित ज्ञानियों की ओर मुड़कर उन्होंने कहा 'मिथिलायां प्रदीसायां नमे दह्यति किंचन।' यह बात जनक की राज धर्म के प्रति उदासीनता का निदर्शक न होकर उनकी तत्त्वज्ञान संबंधी असामान्य प्रतिबद्धता का ही निदर्शक है।

तत्त्वजिज्ञासा का अन्य जिज्ञासाओं और उनसे संबद्ध बंधनों या प्रतिबद्धताओं के साथ संबंध बना रह सकता है ऐसा एक अद्वैतमत है। इस

तथ्य के संबंध में अद्वैत वेदान्तियों में कुछ मतभेद सा दृष्टिगोचर होता है। एक सुप्रसिद्ध युक्ति 'यदहरेव विरजेत तदहरेव प्रव्रजेत्' यह बतलाती है कि साधक को सांसारिक बंधनों से विरक्त होते ही सर्वभोग परित्यागयुक्त सन्यस्त जीवन शैली को अपना लेना चाहिये। जिसे 'जिसे विदेह मुक्ति' कहा जाता है उसी में तत्त्व ज्ञान जन्य मुक्ति की अंतिम परिणति होती है ऐसा इस मुक्ति की पार्यन्तिकता के समर्थक वेदांती मानते हैं। यह मत उत्तरकालीन वेदान्तियों को पूर्णतया मान्य नहीं है। इसी कारण इन वेदान्तियों ने जीवन्मुक्ति की कल्पना प्रकाश में लायी जिसके संबंध में गीता में कहा गया है कि–काम क्रोध वियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्। अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्। अर्थात् रागद्वेषादि दुर्भावनाओं से असंस्पृष्ट शुद्ध चित्त के सर्वविधपरित्यागी यतियों का जीवन ब्रह्मानंदमय हो जाता है। ऐसे यतियों के ही संबंध में कहा जाता है कि त्रैगुण्यमय वासनाओं से अछूता जीवन व्यतीत करने वाले यतियों के लिये अच्छा या बुरा क्या हो सकता है ?

यहाँ दो महत्त्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न होते हैं। एक यह कि तत्त्वजिज्ञासु के लिये सब प्रकार के बंधनों या प्रतिबद्धताओं से पूर्णतया मुक्त होना तत्त्वज्ञानप्राप्ति के लिये आवश्यक है ? दूसरा प्रश्न यह है कि अनेक प्रकार के ज्ञात–अज्ञात बंधनों से सदैव अवगुंठित रहने वाले तत्त्व जिज्ञासु के लिये भी सब बंधनों से पूर्णतया मुक्त होकर तत्त्वज्ञान प्राप्ति के लिये प्रयासशील होना क्या संभव है ?

पहले प्रश्न का उल्लेख पीछे किया गया है। उसका उत्तर यह है कि तत्त्वज्ञान यह आंशिक, विपर्यस्त, काल्पनिक या ज्ञात–अज्ञात वैयक्तिक अथवा सामूहिक दुराग्रह–दुर्ग्रह पर आधारित ज्ञान नहीं है। वह ऐसा ज्ञान माना जाता है जिसके संबंध में उपनिषद् कहते हैं 'यस्मिन्नु खलु विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति' और जिसका वर्णन गीता 'ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिं अचिरेणाधिगच्छति' इन जैसे शब्दों में करती है। ऐसा ज्ञान सर्वविध कायिक, बौद्धिक, भावनिक, मानसिक तथा आहार्य बंधनों या प्रतिबद्धताओं से पूर्णतया मुक्त होता है। इस बात को ध्यान में रखकर ही माण्डूक्योपनिषद् में अद्वैतानुभूति का वर्णन करने के लिये 'नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञं ना प्रज्ञं, शान्तं, शिवं अद्वैतं तुरीय मन्यते' इन अर्थपूर्ण विशेषणों का प्रयोग किया गया है। यदि 'तत्त्वज्ञान' संज्ञा सभी वेदान्तेतिरिक्त दर्शनों के लिये यथावत् प्रयुक्त होती रहे तो वेदान्त को तत्त्वज्ञान के बदले ब्रह्मज्ञान कहना होगा क्योंकि वेदान्त ही सब प्रकार की प्रतिबद्धताओं या पूर्वाभ्युपगमों

को अपसारिता कर ही सत्वानुसंधान या कहें ब्रह्मानुसंधान के लिये प्रवृत्त होता है। यही बात आचार्य शंकर ने ब्रम्हजिज्ञासा के अधिकारी का वर्णन करते हुए कही है। सर्व–पूर्वाभ्युपगमरहित तत्त्वजिज्ञासा ही ब्रह्मजिज्ञासा होने के कारण ऐसी जिज्ञासा की प्रेरणा से तत्त्वविचार के लिये प्रवृत्त होने वाले साधक को 'वैतण्डिक कहा जाता है। 'स्वपक्षस्थापना हीना वितण्डा' इस परिभाषा के अनुसार ब्रम्हजिज्ञासु किसी बात को मानकर या किसी बात को दूसरों से मनवाने के लिये तत्त्वविचारार्थ नहीं प्रवृत्त होता है क्योंकि उसका अपना कोई साधनीय पक्ष या सिद्धान्त नहीं होता। और ब्रह्म तो स्वयं सिद्ध परमसत्य है। उसे सिद्ध करने का प्रश्न ही नहीं उठता। जो अनेकानेक परस्परानुकूल प्रतिकूल सिद्धान्त अन्य दर्शनों ने तत्त्व के संबंध में खंडन मंडन प्रक्रिया के द्वारा समर्थित किये हैं उनकी बौद्धिक तथा अन्यविध प्रतिबद्धता से मनन चिन्तन द्वारा अपने को पूर्णतया मुक्त कर लेना यही ब्रम्हजिज्ञासु का लक्ष्य हुआ करता है। यह बात संक्षिप्त और काव्यात्मक ढंग से शंकराचार्य अपने सुप्रसिद्ध दशश्लोकी नामक तात्त्विक स्त्रोत में कहते हैं। उदाहरणार्थ निम्न दो श्लोक देखें –

न भूमिर्न तोयं न तेजो न वायुः
न रवं नेन्द्रियं वा न तेषां समूहः
अनेकान्तिकत्वात् सुषुप्तेकसिद्धः
तदेकोऽवशिष्टः शिव–केवलोऽहम्।
न वर्णा न वर्णाश्रमाचार धर्माः
न मे धारणा ध्यान योगादयोऽपि
अनात्माश्रया हे ममाध्यासहानात्
तदेकोऽ वशिष्टः, शिवः केवलोऽहम्।।

इन दो श्लोकों में ही समग्र विश्व तथा विश्वान्तर्गत आचार विचारादि का परमसत्य की कक्षा से अपसारण अनायास ही तर्कों द्वारा कर दिया गया है। ये तर्क वेदान्त में अन्य दर्शनों से ही प्राप्त किये गये हैं। उन्हीं के तर्कों से उन्हीं के सिद्धान्तों का खंडन वेदान्त करता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाशादि सत्य माने जाने वाले सब पदार्थ वास्तव में असत् हैं क्योंकि जागृत स्थिति में अनुभाव्य होते हुए भी चेतना की अन्य स्थिति में ये पदार्थ लुप्त से हो जाते हैं। यह पहला विश्वासत्यता प्रस्थापक तर्क है, क्योंकि जो सत् है उसे सदैव ज्ञेय रहना चाहिये। ऐसा न मानें तो स्वाप्न, काल्पनिक, आध्यासिक बातों को भी सत्य मानना पड़ जायेगा। दूसरा तर्क विश्व की

असत्यता सिद्ध करने वाला यह है कि 'मैं' 'मेरा' जैसे आत्म और आत्म संबंधी सत्ता की अनुभूति चेतना की विभिन्न स्थितियों में पूर्णतया लुप्त हो जाती है। शरीरेन्द्रियादि के प्रति या धन दौलत, परिवार आदि के प्रति जो मैं, मेरा इस प्रकार के अपनत्व की भावना प्रत्येक व्यक्ति के मन में बनी रहती है वह अंशतः और कभी–कभी पूर्णतया भी लुप्त हुई देखी जाती है। अतः अहंता ममतादि आत्म के वास्तविक स्वरूप नहीं हैं। इन सबसे परे जो तत्त्व है वह शुद्ध परब्रह्म है।

यह एक सामान्य धारणा है कि दार्शनिक चिंतन सर्वांगीण, पक्षपात रहित तथा अनुभवाधिष्ठित हुआ करता है जबकि वैज्ञानिक अनुसंधान आंशिक वस्तु–मात्रनिष्ठ–अंग्रेजी में ऑब्जेक्टिव–तथा केवल ऐंद्रिय और इंद्रिय शक्ति विस्तारक यांत्रिक उपकरणों की प्रतिक्रियाओं पर आधारित होता है। इस विषमता के कारण ही दार्शनिक चिंतन के निष्कर्ष वैज्ञानिक अनुसंधान के समान किसी ठोस परिणाम के जनक न होते हुए भी दार्शनिक चिंतन वैज्ञानिक अनुसंधान से श्रेष्ठ समझा जाता है। इंद्रियाधिष्ठित ज्ञान से इंद्रिय, मन, भावना–अहंकार आदि का समुच्चित रूप जो अंतःकरण है उसमें प्रकट होने वाला वस्तुविषयक अनुभव–जिसे अंग्रेजी में 'एक्स्पीरियन्स' या इंटिग्रल एक्स्पीरियन्स' कहा जाता है, उसे अधिक प्रमाणिक माना जाय तो आश्चर्य की बात नहीं। लेकिन विभिन्न दर्शनों के तत्त्वचिंतनों की विधाओं पर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि ऊपर बतायी विशेषतायें (तत्त्व–चिंतन को वैज्ञानिक अनुसंधान से अलग रखने वाली) वास्तव में तत्त्व चिंतन में होती ही नहीं। कुछ उदाहरणों के द्वारा यह तथ्य स्पष्टया प्रस्तुत किया जा सकता है। न्याय सिद्धान्तमुक्तावली की दिनकरी व्याख्या में न्याय वैशेषिक दर्शन के पदार्थ विभाग के प्रसंग में पदार्थों की संख्या के संबंध में एक प्रश्न उठाया गया है। उसका उत्तर व्याख्याकार 'स्वतंमेच्छस्य मुनेः नियोगपर्यनुयोगानर्हत्वात्' इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं। इस कथन का तात्पर्य यह है कि सूत्रकार ऋषि, भाष्यकार, या व्याख्याकार आदि भी अपनी विशेष दार्शनिक भूमिका के लिये जो बात या तथ्य स्वीकार करना आवश्यक समझें उसे वे यौक्तिक या आनुभविक आधार के बिना पुरस्कृत कर अपने दर्शन का निर्माण करने का स्वातंत्र्य रखते हैं। इस पर से यह प्रतीत होता है कि दर्शन शास्त्र विज्ञान के समान आंशिक विचार न होते हुए भी विश्व का वह आंशिक या पूर्वपुरस्कृत दृष्टिकोण से ही विचार करता है।

इस कथन के प्रमाण के रूप में न्याय वैशेषिक, मीमांसा तथा सांख्य इन तीन यथार्थवादी दर्शनों का सर्वेक्षण काफी बोधप्रद होगा। इस रूप में ये तीनों दर्शन जनसाधारण के अनुभव की–जिसे अंग्रेजी में कॉमनसेन्स कहा जाता है–भूमिका के ही पुरस्कर्ता हैं, ऐसा माना जाता है। यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो इन तीनों ने जनसाधारण के अनुभवों का स्पष्टीकरण एक दूसरे से नितांत भिन्न ही क्या एक दूसरे का अंशतः या पूर्णतः विरोधी रूप में किया है। सामान्यजन घटपटादि द्रव्य और उनके रूप रस गंध स्पर्शादि गुण धर्मों को परस्पर भिन्न या परस्पराभिन्न भी नहीं समझते। वे इनको द्रव्य पदार्थ की इकाई का अंगभूत ही मानते हैं। जैसे हाथ, पैर आदि शरीर की इकाई के अंग होते हैं। मीमांसा का मत थोड़ा बहुत इस विचार से मेल खाता है क्योंकि उसके अनुसार द्रव्यादि पदार्थ अपने गुणों से एक रूप में भिन्न है और दूसरे रूप में अभिन्न भी है। यह भेदाभेदवाद है जो भेद को अभेद का आत्यंतिक विरोधी नहीं मानता। लेकिन यही बात–भेदाभेद विरोध–न्याय वैशेषिक दर्शन की एक आधारशिला है। जैसे गुणादि, आधार भूतद्रव्यादि से कहीं और कभी विद्यमान न हो सकने पर भी और द्रव्यादि की इकाई के अंगभूत प्रतीत होने पर भी वे परस्पर अत्यंत भिन्न हैं। उनमें कोई साम्य नहीं है। भले ही गुणादि ही द्रव्य के परिच्छेदक या व्यवच्छेदक हुआ करते हैं।

सांख्यमत उक्त दोनों मतों के बिलुकुल प्रतिकूल है। गुणों को द्रव्याधारित या द्रव्य जन्य मानने के बहाने सांख्य द्रव्य को ही गुणाधारित या गुणजन्य (इस प्रकार से) मानता है। सभी पंचमहाभूतात्मक बाह्यसृष्टि बुद्धि या महत् तत्त्वरूप गुण से विकसित हुई है और वह उसी का क्रमशः वर्धमान स्थूल रूप है, ऐसा सांख्य मानता है। गुण द्रव्य का ही सूक्ष्म रूप है अतः इन दोनों से कोई मौलिक भेद नहीं है। यही नहीं, बाह्य, आभ्यंतर ऐसा पदार्थ–भेद भी वास्तविक नहीं है। बुद्धि अहंकार जैसे आभ्यंतर समझे जाने वाले गुणात्मक पदार्थों से ही पंचमहाभूतादि की सृष्टि या विकास हुआ है। यह जनसाधरण के द्रव्य–गुण संबंध विषयक विचारों का एक तरह पूर्ण विपर्यास है। फिर भी सांख्य यथार्थवादी दार्शन ही समझा जाता है।

अब यथार्थवाद विरोधी विज्ञानवाद पुरस्कृत वैश्विक दृष्टिकोण की ओर किंचित् दृष्टिपात करें। विज्ञानवादी बौद्ध समग्र विश्व को एक विज्ञान का ही जिसे वे आलय विज्ञान की संज्ञा देते हैं क्योंकि उसी में से विज्ञानातिरिक्त समझी जाने वाली सभी वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, ऐसा

वे मानते हैं। (द्रष्टव्य–यदन्तर्ज्ञेय रूपं बहिर्वद् तदवभासते)। विश्वांतर्गत ज्ञान–ज्ञेय भेद् जो सामान्यानुभवप्रभाणित है उसे अस्वीकार कर ज्ञेयमात्र को ज्ञान का और वह भी एक ही विश्वातिशायी ज्ञान का बाह्य रूप ठहराना (यहाँ अन्तर क्या है जो बाह्य से बिलकुल भिन्न है यह विज्ञानवादी नहीं बताते) एक तरह का आत्यंतिक पक्षपात है। इस पक्षपात का तथाकथित आनुभविक आधार स्वाप्न और जागृत चैतन्य इनका स्थूल साम्य है। इस साम्य को वास्तविक मानकर इनके वैषम्य को बिना किसी प्रबल तर्क के ही विज्ञानवादियों ने अस्वीकार कर दिया है। जैसे स्वाप्न विज्ञान के विषय प्रायः अंतर्विरोध पूर्ण प्रतीत होते हैं। स्वप्न में द्रष्टा अपने को ही मृत हुआ देख सकता है। जागृत होने पर अनिवार्यतया स्वाप्न विषय मिथ्या लगते हैं लेकिन किसी भी स्वप्न में जागृती का मिथ्यात्व अनुभवगोचर नहीं होता भले ही जागृत विषय विपरीत रूप में स्वाप्नानुभवगोचर हों। जागृति जागृति के रूप में स्वप्न में कभी प्रतीत नहीं होती और न हो सकती, क्योंकि इन में परस्पर विरोध है।

इन चार उदाहरणों पर से यह स्पष्ट हो जाता है कि दार्शनिक चिंतन जैसा निष्पक्षपात समझा जाता है वैसा वह बिलकुल नहीं है। वह विश्व मात्र का चिंतन भी नहीं है क्योंकि जो बातें, वस्तुएं या तथ्य किसी दर्शन के पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण की कक्षा में नहीं आते उन्हें वह असत्य, उपेक्षणीय या भ्रान्तिपूर्ण ही मान लेता है। दार्शनिक चिंतनों की इस न्यूनता को जैन दर्शन के प्रमाणनय विभाग ने सुचारू रूप से प्रकाश में लाया है। इस विभाग के अनुसार सभी जैनतर दर्शन नयरूप अर्थात् दृष्टिकोण विशेष रूप से ही हुआ करते हैं। जैसे बौद्ध दर्शन का क्षणभंगवाद स्थूल प्रतीत होने वाली वस्तुओं को क्षण मात्र स्थायी अंतिम घटकों के पुंज के रूप में स्वीकार करता है। स्थूल की स्वतंत्र सत्ता इस दर्शन को अमान्य है। ऐसी ही बात अन्य दर्शनों के संबंध में भी पायी जाती है। कोई भी जैनेतर दर्शन नयवाद के अनुसार विश्व का सर्वांगीण विचार नहीं करता। ऐसा सर्वांगीण विचार करने वाला दर्शन ही 'प्रमाण' संज्ञा के योग्य है। लेकिन जैन दर्शन प्रमाण क्यों है जबकि अन्य सब दर्शन नयमात्र हैं, इस बात का यथोचित समर्थन जैन दार्शनिकों ने नहीं किया है। जो सर्वज्ञ है वही विश्व का ज्ञाता हो सकता है। लेकिन स्याद्वादपुरस्कर्ता कोई भी जैन दार्शनिक का सर्वज्ञ होना कैसे संभव है जबकि किसी भी बात या तथ्य के संबंध में कोई भी निश्चयात्मक कथन या ज्ञान घटित ही नहीं हो सकता। ऐसा स्याद्वादी जैनों का मंतव्य है।

सत्यता जो भी हो लेकिन जैनों के प्रमाण नय द्वैत ने दार्शनिक चिंतन की निष्पक्षपातता तथा सर्वांगीणता का यथायोग्य खंडन कर दिया है। ऐसी ही बात अपने वस्तुमात्र के निःस्वभावतावाद के आधार पर माध्यमिक संप्रदाय के बौद्धों ने दृष्टिमात्र को विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोण मात्र सिद्ध कर परमसत्य को सर्व विचारातीत शून्य के रूप में प्रस्तुत की है। इस विचारातीत शून्य या शून्यता को ही कोई विचारक एक तत्त्व न समझ बैठे इसलिये माध्यमिक दर्शन संप्रदाय के प्रणेता नागार्जुन अपनी माध्यमिक कारिका में स्पष्टतया कह देते हैं कि शून्यता भी कोई तत्त्व नहीं है जिसे सब दृष्टियों के परित्याग के बाद पुरस्कृत किया जाय। जैसे दृष्टियाँ पुरस्कार्य नहीं है वैसे ही उनकी या उनके तथाकथित विषयों की शून्यता भी तत्त्व के रूप में पुरस्कार्य नहीं है। माध्यमिक सिद्धान्त के ('सिद्धान्त' शब्द का प्रयोग यहाँ उपयुक्त शब्द के अभाव में करना पड़ रहा है') अनुसार 'सर्वदृष्टिप्रहाण' कर निर्विचार स्थिति में अवस्थित हो जाना यही दार्शनिक चिंतन का अंतिम और परम लक्ष्य है। इस प्रकार यदि दार्शनिक चिंतन का पर्यवसान अनिवार्यतया निर्विचारता की स्थिति में हो तो ऐसे चिंतन को निष्प्रयोजन ही समझना होगा। ऐसी ही बात एक बौद्ध पंडित ने (शायद 'मध्यांत विभाग सूत्र भाष्य' नामक ग्रंथ में) निम्न उक्ति के द्वारा प्रकट की है। उक्ति इस प्रकार है :– 'अस्तीत्येकोऽन्तः, नास्तीत्यपरोऽन्तः, एतौ उभौअन्तौ विहाय मध्यपि अवस्थान न करोति पंडितः।'

यदि दार्शनिक चिंतन अन्यान्य प्रतिबद्धताओं और पूर्वाभ्युपगमों से मुक्त नहीं है और न मुक्त हो सकता है तो क्या वैज्ञानिक चिंतन जिसका आज बोलबाला है विश्व के सत्य स्वरूप का निदर्शक माना जा सकता है ? विज्ञान की कोई भी शाखा प्रदत्त सत् के यथावत् आकलन के द्वारा ही उसके संबंध में अपने विचार या सिद्धान्त को प्रस्तुत करती है। इस कारण ही वैज्ञानिक चिंतन को शत प्रतिशत विषयनिष्ठ (अंग्रेजी में ओब्जेक्टिव) माना जाता है। इस पर चिंतक के दृष्टिकोण विशेष का यात्किंचित् भी प्रभाव नहीं होता। यही कारण है जिससे प्रेरित होकर चार्ल्स डार्विन ने समकालीन जनता को अत्यंत अप्रिय और अपमानजनक प्रतीत होने वाला सत्य–कि मानव के पूर्वज वानर जाति के प्राणी थे– अपनी खोज और उस पर आधारित, सूझ के द्वारा प्रस्थापित किया। विश्व विख्यात स्टीफेन हाकिंग जैसे आज के चोटी के ज्योति भौतिक शास्त्रज्ञ अपनी पूर्णतया वस्तुनिष्ठ निरीक्षण और तदाधारित चिंतन की सहायता से ही समग्र ब्रह्मांड का यथार्थ

और अतिविस्मय कारक स्वरूप विशद कर पाये हैं। किसी भी अभ्युपगम या प्रचलित विचार का प्रयोग निरीक्षणादि द्वारा परीक्षण कर उसकी सत्यता सिद्ध किये बिना उसे वैज्ञानिक लोग स्वीकार नहीं करते जबकि दार्शनिक अपने स्व–पुरस्कृत वस्तु विशेष विषयक दृष्टिकोण को समग्र विश्व पर प्रायः आरोपित करते दिखाई देते हैं। यदि ऐसी ही सच्चाई हो तो विज्ञान को ही परम सत्यता का निदर्शक मानना होगा और दर्शनों को दार्शनिक निर्मित कल्पना जाल या उनका दिवास्वप्न समझना होगा।

परंतु वैज्ञानिक सत्य को भी सत्यता का आदर्श नहीं माना जा सकता। इस संबंध में विगत शती के अतिश्रेष्ठ भारतीय दार्शनिक श्री कृष्णचंद्र भट्टाचार्य का मंतव्य जो उनके दि कॉन्सेप्ट ऑफ फिलॉसोफी इस एक निबंध में प्रस्तुत किया गया है वह–नावीन्यपूर्ण और अति मननीय है। उनके मंतव्य के अनुसार विज्ञानों के पूर्णतया विषयनिष्ठ माने जाने वाले सिद्धान्त वस्तुगत सत्य के निदर्शक तो होते ही नहीं। वे वास्तव में वस्तु स्वरूप पर वैज्ञानिक द्वारा किये जाने वाले बौद्धिक अत्याचार के रूप में देखे जाने योग्य हैं। इसका कारण यह है कि विश्वांतर्गत सभी वस्तुऐं प्रयोगार्ह होती हैं अतः उनका बाह्य निरीक्षण तथा उन पर स्वेच्छानुसार वैज्ञानिक द्वारा किये जाने वाले प्रयोग उनका आत्मीय आंतरिक स्वरूप उद्‌घाटित कर सकते हैं; यह धारणा जो विषयनिष्ठता के प्रत्यय के लिए आधार भूत है वह पूर्णतया गलत है। जड़ समझी जाने वाली वस्तुओं का भी आत्मीय, आंतरिक स्वरूप हो सकता है–और होता भी है–जो वैज्ञानिक प्रयोग की कक्षा में नहीं आता। भट्टाचार्य ने यह बात जिस समय उक्त निबंध में उल्लिखित की थी उस समय सुप्रसिद्ध अणुवैज्ञानिक हाइजेनबर्ग का अनिर्धार्यता सिद्धांत आविष्कृत नहीं हुआ था। इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक परमाुण जो स्थूल द्रव्य का अंतिम घटक होता है, अपने पूर्ण रूप में किसी प्रयोग से निर्धार्य नहीं होता। वह एक ही समय अपने स्थान में तथा अन्य स्थानों में विद्यमान हो सकता है। ये बातें जड़ समझे जाने वाले परमाणुओं की आत्मीय अनिर्धार्यता की द्योतक हैं और वे सर्वमान्य हो गयी हैं। मनोविज्ञान में मनुष्य के मन को समझने के लिये मनुष्य को प्रयोगार्ह पदार्थ मानकर उसकी विभिन्न अवस्थाओं में प्रतिक्रियायें जानने का प्रयत्न किया जाता है। एक हद तक ये प्रयोग सत्य के निदर्शक हो सकते हैं। लेकिन यदि प्रयोज्य मनुष्य अपनी प्रयोज्यता को भुलाकर आत्मीय स्वातंत्र्य को अपनी प्रतिक्रियाओं में व्यक्त करने लग जाय तो उस मनुष्य के संबंध में सत्य निष्कर्ष प्राप्त करना असंभव हो जायगा।

यही बात अन्य विज्ञानों के निष्कर्षों को भी लागू मानी जा सकती है। अतः विज्ञानों के निष्कर्ष पूर्णतया सत्य और अप्रतिबद्ध होते हैं, यह मान्यता भी त्याज्य ही समझनी होगी।

इस प्रकार सभी दर्शन तथा विज्ञान और उनका विश्व तथा वैश्विक परम सत्य विषयक चिंतन उपरिनिर्दिष्ट स्पष्टीकरणानुसार विभिन्न वैचारिक तथा अन्यविध प्रतिबद्धताओं से सीमित होने के कारण उन सबका परित्याग कर अद्वैत की भूमिका का परिग्रह ब्रह्मजिज्ञासु साधक को करना पड़ता है। यह भूमिका प्रथमतः द्वैतनिषेधात्मक होती है। द्वैत अनेक प्रकार के होते हैं—जैसे वस्तुसत् संबद्ध द्वैत, वस्तु धर्म संबद्ध द्वैत, वस्तु विषयक ज्ञान संबद्ध द्वैत, मानसिक या मनोवृत्ति संबद्ध द्वैत, कृति संबद्ध द्वैत आदि। इन सभी प्रकार के द्वैतों को तथा जनसाधारण तथा अन्यान्य दार्शनिक, वैज्ञानिक, सामाजिक विचारों की स्वनिर्मित एवं नैसर्गिक प्रतिबद्धताओं का ही बाह्य रूप समझा जा सकता है। द्वैत का निषेध—तर्क, चिंतन, निदिध्यासन आदि के द्वारा निरास— यह अद्वैत की ब्रम्हजिज्ञासाधारित भूमिका का वास्तविक रूप है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'क्या कोई साधक ब्रह्मजिज्ञासु अकस्मात्—सांसारिक द्वैतमय प्रतिबद्ध जीवन का अतिवाहन करते हुए ही—ऐसे जीवन से परावृत्त होकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रवृत्त हो सकता है ? यदि ऐसी ही बात हो तो इस परावृत्ति के लिये अपेक्षित जो अनुभव है—जिसका वर्णन 'किं प्रजया करिष्यामो किं धनेन करिष्यामो येषां नोऽयमात्मा', 'अतोऽन्यदार्तम्' ऐसे, उपनिषदों में बिखरे हुए अनेक वाक्य करते हैं—उसे सांसारिक जीवन में कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? केवल द्वैत निरासक तर्कों के प्रभाव से कोई भी जिज्ञासा द्वैतमय जीवन से पूरी तरह मुख नहीं मोड़ सकता। किसी ब्रह्मज्ञ के उपदेशों से भी ऐसी द्वैतपरावृत्ति होना संभव नहीं माना जा सकता। यदि ऐसा हो पाता तो विश्व में ब्रह्मजिज्ञासुओं की भरमार होती क्योंकि द्वैत निषेधक तर्क और ब्रह्मोपदेशक इनकी सर्वत्र उपलब्धता है। यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसका उत्तर यह है कि द्वैतमय सांसारिक जीवन में से ही अद्वैताभिमुख चित्तवृत्ति का विशेष प्रसंगों में स्फोट होता है। इसका कारण द्वैत का अंतर्विरोध है। लोक व्यवहार या मनुष्य का दैनन्दिन जीवन—जैसा अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य के प्रारंभ में आचार्य शंकर कहते हैं—'सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहमिदं ममेदं इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः'—मूलतः सत्यासत्य के अंतर्विरोध पर आधारित है। इस विरोध की जड़ सब तरह के द्वैतों की अधिष्ठानभूत देहात्मानुभूति है। शरीर मेरा होते हुए भी मैं शरीर से

भिन्न नहीं हूँ अतः ज्ञात, अज्ञात रूप से शरीर संबद्ध सब बातें भी मुझसे भिन्न नहीं हैं, इस प्रकार का अध्यास जो एक विशेष प्रकार की आजीवन स्थायी भ्रांति है–द्वैत मय जीवन का पोषण करती है। इस भ्रांति के लिये 'अध्यास' 'माया' जैसे शब्दों का प्रयोग अद्वैत में इसलिये किया गया है कि इस भ्रांति को भ्रांति समझकर भी उससे छुटकारा नहीं हो पाता। राजनीति के वर्णन के लिये एक भारतीय राजनीतिज्ञ ने 'पॉलिटिक्स इज एन् आर्ट ऑफ मॅनेजिंग कॉन्ट्रॅडिक्शन्स' इस अन्वय वाक्य का प्रयोग किया था। यह वाक्य सारे मनुष्य जीवन को लागू है। सामान्य मनुष्य और विचारक के जीवन में पदे पदे तरह तरह के अंतर्विरोधों का अनुभव करते हुए उनको अपने द्वैतमय चित्तवृत्ति में किसी तरह आत्मासात कर लेते हैं। लेकिन ऐसा करते करते कभी किसी व्यक्ति के जीवन में ऐसी अतिजटिल परिस्थिति जो भयानक अंतर्विरोधपूर्ण होती है–उत्पन्न होती है और जो देहात्मानुभूति में भयंकर विस्फोट पैदाकर व्यक्ति को द्वैतमय जीवन से पूर्ण पराङ्मुख कर देती है। ऐसी ही स्थिति में 'अतोऽन्यदार्तम्' जैसे उदान व्यक्ति से मुख से निकल पड़ते हैं। ब्रह्मजिज्ञासा उत्पन्न नहीं की जा सकती और न वह किसी पर थोपी जा सकती है। इस जिज्ञासा का जीवन की विशेषतया विषम परिस्थितियों में अपने आप स्फोट होता है और उसका शमन ब्रह्मात्मानुभूति से ही होता है। जिज्ञासा शमन की प्रक्रिया एक आध्यात्मिक साधना है जिसका पूर्वरूप द्वैत निरासक तर्क है जो देहात्मानुभूति के पोषक सभी प्रकार के अंतर्विरोधों को सुव्यवस्थित ढंग से उद्घाटित करता है। दर्शनों के अध्येता लोग इन तर्कों को ही अद्वैत वेदान्त मानते हैं। वे यह नहीं जानते कि अद्वैत एक आध्यात्मिक साधना है जिसके लिये शंकराचार्य ने साधन चतुष्टय संपत्ति संपन्न होना साधक के लिये आवश्यक बतलाया है। यही कारण है कि वेदान्त के अध्ययनमात्र से किसी को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। द्वैतनिरासक तर्कों के निष्कर्ष को पूर्णतया आत्मसात् करना–जिसके लिये उनका निदिध्यासन या सतत् मनन आवश्यक है–यह उक्त साधना का उत्तररूप है। निदिध्यासन एक विशेष प्रकार का ज्ञान है जिसमें ज्ञान ज्ञेय या ज्ञाता और ज्ञेय इनके आपातिक भेद का क्रमिक निरास और अंत में इनको ऐक्य अथवा ऐक्यानुभव में इसकी परिणति संभव मानी जाती है। इस बात का स्पष्टीकरण कीट भृंग न्याय से दिया जाता है। यह न्याय एक विशेष प्रकार के मौलिक रूपांतरण को सूचित करता है। भौंरा एक कीड़े को अपने छत्ते में लाकर उसके चारों ओर बार–बार गुंजन करता रहता है। ऐसा करते रहने से कुछ समय बाद वह कीड़ा भौंरे

जैसा हो जाता है। इस न्याय के उदाहरण में जो भी सच्चाई हो उससे यह सूचित किया जाता है कि निदिध्यासनरूप ज्ञान से ब्रह्मजिज्ञासु ब्रह्मरूप हो जाता है अर्थात् उसका मूलभूत ब्रह्मरूप प्रकट हो जाता है।

यह ज्ञान विषयविषयिभावात्मक न होकर शुद्ध विषयिभावात्मक होता है (जिसे अंग्रेजी में 'नोइंग बाई बीइंग' कहते हैं)। ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' यह सुप्रसिद्ध वाक्य इस तथ्य को बतलाता है। सभी व्यावहारिक ज्ञान विषयविषयी भावात्मक ही होते हैं लेकिन ब्रह्मानुभव शुद्ध अनुभूवरूप चैतन्यरूप होता है। सामान्य अनुभवों में कुछ अनुभव ब्रह्मानुभव से कुछ समानता रखते हैं। जैसे अत्यंत कर्ण मधुर संगीत की धुन सुनते समय श्रोता अपने आपको और अपनी अनुभूति को संगीत की धुन में अज्ञात रूप से विलीन कर देता है।

निदिध्यासन का सामान्य विषयों पर भी अभ्यास किया जा सकता है और किया भी जाता है। एकाग्र दृष्टि से किसी वस्तु को कुछ समय निहारते रहने से द्रष्टा अपने अस्तित्व को भूलकर सम्मुखीन विषय की सत्ता में एक प्रकार से विलीन हो जाता है लेकिन यह विलय अल्पकालिक होता है। ब्रह्मजिज्ञासु साधक का ब्रह्म में विलय उसकी स्वयं की सत्ता को ही समाप्त कर देता है। इसी तथ्य को पीछे उद्धृत की हुई माण्डूक्य उपनिषद् की उक्ति अतीव अर्थपूर्ण ढंग से उपवर्णित करती है।

16, दि एन्क्लेव मनुकाऊ,
गार्डंस् ऑकलैंड (न्यूजीलैंड)

अपोहवाद और व्याकरण परम्परा के शब्दार्थ सिद्धांतों की समीक्षा

अम्बिकादत्त शर्मा

''परमार्थस्तु आर्यानां तूष्णीभावः''– यदि भाषा–दर्शन की दृष्टि से विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि बौद्ध नैयायिकों का सम्पूर्ण दार्शनिक चिन्तन इस बात से सम्बन्धित है कि वह क्या है जिसे भाषा के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता और भाषा के माध्यम से जो कुछ व्यक्त होता है उसका स्वरूप क्या है ? क्या भाषा किसी वस्तु के स्व–स्वरूप को व्यक्त करती है अथवा भाषा के द्वारा जो कुछ व्यक्त होता है, वह किसी वस्तु का वास्तविक स्वरूप न होकर कुछ और ही होता है ? क्या मानवीय संज्ञान की कोई ऐसी भी स्थिति है जहाँ ज्ञान तो हो, लेकिन भाषा अनुपलब्ध रहती हो ? क्या भाषा में ही कोई अन्तर्निहित कमजोरी है कि ज्ञान की उस अवस्था में जहाँ वास्तविकता अपने स्व–स्वरूप में उपलब्ध तो होती है लेकिन भाषा उसे स्पर्श तक नहीं कर पाती ? तब भाषा की प्रकृति को किस प्रकार समझा जाय ? भाषा में व्यक्त वास्तविकता किस प्रकार अपने स्व–स्वरूप से च्युत हो जाती है ?

उपर्युक्त समस्याओं पर बौद्ध नैयायिकों ने एक तत्त्वमीमांसीय पृष्ठभूमि में ज्ञानमीमांसीय आधार पर गम्भीरता से विचार–विमर्श करते हुए जो स्थापनायें की हैं उसे ''अपोहवाद'' का नाम दिया है। अपोहवाद ही बौद्धों के भाषा–दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त है। यह भाषा और सत् के स्वरूप के साथ कितना न्याय करता है, यह कहना तो कठिन है, फिर भी इसमें एक मूलग्राही दृष्टि है जो शब्द और उसके अर्थ के महत्त्वपूर्ण पक्ष को उद्घाटित करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो अपोहवाद की मौलिकता इस बात में निहित है कि भाषा की मूलगामी भूमिका विधानपरक नहीं बल्कि निषेधमूलक है। इसीलिए आचार्य दिङ्नाग ने शब्द और विकल्प में परस्पर जन्य–जनक भाव को स्वीकार किया है (विकल्प योनयः शब्दा, विकल्पाः शब्द योनयः)। बौद्ध चिन्तन परम्परा के इतिहास में इस सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रवर्त्तन आचार्य

दिङ्नाग ने किया था। तदुपरान्त धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकार गुप्त, शान्तरक्षित, कमलशील, ज्ञानश्री मित्र, रत्नकीर्ति इत्यादि के द्वारा इसका उत्तरोत्तर विकास हुआ है। वैदिक परम्परा के दार्शनिकों में कुमारिल भट्ट, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य इत्यादि के द्वारा अपोहवाद के भूरिशः खण्डन ने भी इस सिद्धांत के विकास और परिष्कार को भरपूर प्रभावित किया है।

(1)

यदि भारतीय भाषा दार्शनिक चिन्तन के इतिहास में दिङ्नाग से पूर्व अपोहवाद के गुण–सूत्रों को खोजने का प्रयास किया जाय तो हमें पतंजलि द्वारा उपस्थापित अतिसाधारण लेकिन अतिमहत्त्वपूर्ण उस प्रश्न पर विचार करना होगा कि पद का अर्थ अर्थात् पदार्थ क्या है ? ऐतिहासिक रूप से व्याकरण परम्परा में इस प्रश्न के दो प्रतिनिधि उत्तर दिये गये हैं जिन्हें क्रमशः वाजप्यायन और व्याड़ि से जोड़ा जाता है। वाजप्यापन का मत था कि शब्द और शब्दांश जाति (आकृति) के वाचक होते हैं और व्याड़ि का मानना था कि सभी शब्द द्रव्य अथवा व्यक्ति का अभिधान करते हैं क्योंकि क्रिया की साक्षात् अन्विति व्यक्ति से ही होती है (आकृत्यभिधानाद्वैकं विभक्तौ वाजप्यापनः और द्रव्याभिधानं व्याड़िः)। यहाँ अपोहवाद के सन्दर्भ में व्याडि का अभिमत ऐतिहासिक महत्त्व का है। पतंजलि, हेलाराज, कुमारिल और पार्थसारथि मिश्र इत्यादि ने जहाँ कहीं भी व्याड़ि के मत का उल्लेख किया है, सभी ने उन्हें भेदवादी कहा है। व्याड़ि के भेदवाद का तात्पर्य यह है कि भेद ही वाक्यार्थ है और वाक्यगत प्रत्येक पद अपने वाच्य द्रव्य का द्रव्यान्तर की निवृत्ति पूर्वक अभिधान करता है। उदाहरण के लिए गौ पद का वाच्य गोत्व जैसा कुछ नहीं बल्कि उससे अ–गौ वर्ग में आने वाले हाथी, घोड़ा इत्यादि से गौ पद की भिन्नता अभिहित होती है। उसी प्रकार जब शुक्ल गौ कहा जाता है तो इससे शुक्लत्व का गौ व्यक्ति से संसर्ग सूचित नहीं होता बल्कि शुल्क पद से गौ व्यक्ति के सन्दर्भ में शुक्लेतर वर्णों का निषेध ही विदित होता है। वैसे ही इस वाक्य में गौ पद से गवेतर सभी शुक्लवर्णा वस्तुओं की व्यावृत्ति ही द्योतित होती है। अतएव कुमारिल भट्ट ने व्याड़ि के अभिमत को स्पष्ट करते हुए उचित ही कहा है कि–''भेदानाम पदार्थानां व्यवच्छेदः परस्परं......... व्यक्ति पदार्थ पक्षे सर्वव्यक्तिनाम गवादिपदेनौवोपात्तत्वात् विषयशब्दैः शुक्लादिभिः कृष्णादिव्यच्छेदमात्रं वक्तव्यम्– ''तंत्रवार्त्तिक। इस प्रकार कहा जा सकता है कि संग्रहकार व्याड़ि और अपोहवादी बौद्धों की भाषायी व्यवहार के सन्दर्भ में मूलभूत दृष्टि बहुत कुछ मिलती–जुलती है।

कम से कम दोनों निषेधपरकता अथवा व्यावृत्ति मूलकता को भाषा की मूलवृत्ति के रूप में स्वीकार तो करते ही हैं। परन्तु भेदवादी व्याड़ि और अपोहवादी बौद्धों के बीच के अन्तर की भी अनेदेखी नहीं की जा सकती। एक भाषा वैज्ञानिक प्रतिपादन और दूसरे भाषा दार्शनिक प्रतिपादन में जो कुछ भी अन्तर हो सकता है, वह सब कुछ इन दोनों के बीच देखा जा सकता है। वाजप्यायन और व्याड़ि के मध्य सामान्य और व्यक्ति का विवाद भाषायी व्यवहार को लेकर है। भाषायी व्यवहार में सामान्य और व्यक्ति दोनों की आवश्यकता होती है लेकिन अन्तर केवल इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि इनमें से कौन प्राथमिक है और कौन गौण है। अतः व्याड़ि द्वारा सामान्य के विरोध को तात्त्विक स्तर का नहीं कहा जा सकता जबकि अपोहवादी सामान्य की तात्त्विकता का ही विरोध करते हैं। पुनः व्याड़ि की दृष्टि में भाषायी व्यवहार की व्यावृत्तिमूलकता भी भाषा को कल्पना अथवा विकल्प से नहीं जोड़ती है जबकि अपोहवादियों की दृष्टि में भाषा विकल्प के साथ ही प्रसूत होती है और अन्यव्यावृत्ति इस विकल्पीकरण की पूर्वशर्त है।

वस्तुतः अपोहवाद शाश्वतवादी तत्त्वचिन्तन और उसके भाषा–दर्शन के विरोध में क्षणिकवादी तत्त्वदृष्टि का भाषा–दर्शन है। वैदिक तत्त्वदृष्टि मूल रूप से शाश्वतवादी है लेकिन नैयायिक अपने तरीके से शाश्वतवाद का पोषण जाति या सामान्य तत्त्व के आधार पर करते हैं जिसका भाषा से सीधा–सीधा सम्बन्ध होता है। अर्थात् भाषा तत्त्व को उसके वास्तविक स्वरूप में व्यक्त करती है, अथवा किसी वस्तु का वही वास्तविक स्वरूप होता है जैसी वह भाषा में प्रदर्शित होती है। इस तरह नैयायिक भाषा के स्वरूप और उसकी भूमिका के संन्दर्भ में पारदर्शिता का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। इसके विपरीत बौद्ध नैयायिकों का यह मानना है कि तत्त्व अपने अन्तिम विश्लेषण में क्षणिक ही सिद्ध होता है और भाषा उसे कदापि व्यक्ति नहीं कर सकती। भाषा के द्वारा तत्त्व के संश्लेषित और विकल्पात्मक स्वरूप का ही विन्यास हो पाता है।

द्रष्टव्य है कि आस्तिक परम्परा के भाषा–दार्शनिक चिन्तन में भाषा और सत् (शब्दार्थ) के सम्बन्ध को नित्यसिद्ध[1] स्वीकार किया गया है किन्तु विचारणीय है कि क्या सचमुच भाषा और सत् के मध्य इस प्रकार के सम्बन्ध का कोई तात्त्विक आधार है या 'भाषा' मात्र मनुष्य की प्रतीक–रचना की योग्यता का एक ध्वन्यात्मक बौद्धिक अनुशासन है ? भाषीय आधार पर हमारे व्यवहार व्यवस्थित रूप में सम्पन्न होते हैं, क्योंकि भाषा और सत् में

संवाद है। इस संवाद के तात्त्विक आधार के लिए क्या हम यह सकते हैं कि भाषा के शब्दों अथवा वाक्यों में अर्थविशेष को व्यंजित करने की स्वाभाविक या ईश्वर प्रदत्त शक्ति होती है ?[2] क्या इसीलिए बाह्य जगत् और आन्तरिक अनुभूतियाँ हमारी भाषा में चित्रित होती हैं और उस भाषा विशेष का व्याकरण इस भाषीय प्रतिबिम्बन की सम्प्रेषणीयता को नियमों में व्यवस्थित करता है।

यदि भाषा और सत् के प्रति उपर्युक्त दृष्टि के मूल में देखने का प्रयास किया जाय तो इसके पीछे नित्यवादी तत्त्व दृष्टि, वेदों का सर्वोच्च प्रामाण्य और ईश्वर जैसी सत्ता की भूमिका ही परिलक्षित होती है। इन सब से परे यह भी कहा जा सकता है कि भाषा और सत् का संवाद मानव मन की एक सहज, सामान्य स्वीकृति है जिसे वह शताब्दियों के अपने अनुभव और व्यवहार के दृढ़ किया है। बौद्ध नैयायिकों ने भाषा और सत् पर विचार करते हुए, भाषा को बुद्धि के विकल्पों तक ही सीमित रखा है। उनके अनुसार शब्द का अर्थ से और अर्थ का शब्द से कोई तात्त्विक निबन्धन नहीं है।[3] हमारी बुद्धि में अर्थ का जैसा प्रतिबिम्बन होता है, शब्द उसी का ग्रहण करते हैं। यह कोई आवश्यक नहीं कि बुद्धि में प्रतिबिम्बित अर्थ किसी वस्तु का वास्तविक स्वरूप हो। अतएव शब्द न तो अर्थनिष्ठ है और न ही अर्थजात् बल्कि अर्थसंकेत का ध्वन्यात्मक प्रतीक, वक्ता के अभिप्राय मात्र का निवेदन ही शब्द है।[4] बौद्धों के अनुसार इस निवेदन का स्वरूप ही अपोहात्मक है। यही शब्द और अर्थ के संवाद सम्बन्ध को सुनिश्चित करता है। अपोहात्मक निवेदन का तात्पर्य यह है कि शब्द अपने अर्थ को विरूद्ध के प्रतिषेध पूर्वक व्यक्त करता है।[5] विरूद्ध का प्रतिषेध ''अपोह'' एक द्विवार निषेध का नियम है जिसे बौद्ध नैयायिक ज्ञानमीमांसीय आधार प्रदान करते हैं। इसे अतद्व्यावृत्ति भी कहते हैं। उदाहरणार्थ– जब हम नील कहते हैं तो नील शब्द अ–नील की व्यावृत्ति पूर्वक नील का विधायक होता है। अतएव स्पष्ट ही है कि भाषायी निर्वचन में अपोहन आवश्यक रूप से सम्मिलित रहता है।

(2)

यहाँ अनील की व्यावृत्तिपूर्वक का पूर्वानुबन्ध अर्थात् विरूद्ध–प्रतिषेध पूर्वक अर्थ का विधान शब्दों के अपोहात्मक अर्थाभिधान को सरल नहीं रहने देता है। इस बात को लेकर अपोहवादी और इसका प्रतिवाद करने वाले पारम्परिक बौद्धेतर आचार्य एवं आधुनिक अध्येता भी एतद्विषयक कई बिन्दुओं पर अस्पष्ट प्रतीत होते हैं। उदाहरण के तौर पर कहा जा सकता

है कि अपोह भाषा का दर्शन है अथवा दर्शन की भाषा मात्र है ? पुनः यह अर्थ का दर्शन है या दृश्य अर्थ ही है ? शब्द क्यों अपने अभिप्राय का निवेदन अतद्व्यावृत्तिपूर्वक करता है ? क्या स्वयं शब्दों की प्रकृति ही ऐसी है कि वे अपने अभिप्रेत्य को अपोहात्मक रूप से व्यक्त करते हैं या शब्दों का अभिप्रेत्य ही स्वरूपः अपोहात्मक रूप से संरचित है और इसीलिए उसकी शाब्दिक अभिव्यंजना अपोहात्मक रूप से होती है ? फिर, अपोहन की क्रिया द्विवार निषेधपूर्वक फलित होती है लेकिन इस रूप में अपोहात्मक द्वैधिकरण का तात्पर्य क्या है ? यह समस्त विश्व का द्वैधिकरण है या तद् और अतद् का द्वैधिकरण दृष्टिसाकल्य की सीमित परिधि में प्रतिफलित होता है ? द्विवार निषेध के द्वारा किस तरह ''वही और केवल वही'' वस्तु के अर्थाभिधान में तार्किक अनिवार्यता होती है ? अपोह किस प्रकार अन्यापोह विशिष्ट विधि और कहीं अन्यापोह मात्र क्यों है ? बौद्धों के अपोहवाद का सही चित्र प्रस्तुत करने के लिए उपर्युक्त विवादात्मक स्थलों का स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है। हम इस निबन्ध को इसी दिशा में आगे बढ़ाने का प्रयास करेंगे और यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि न केवल प्रमाणमीमांसा बल्कि भाषा–दर्शन भी किस प्रकार तत्त्वमीमांसा से अनुप्रेरित होती है।

अब यदि इस पक्ष को लिया जाय कि शब्द ही प्रकृतितः अपोहात्मक होते हैं, तो शब्द के द्वारा ही अर्थ के अपोहात्मक स्वरूप का निर्धारण स्वीकार करना होगा। ऐसी स्थिति में शब्द ''अर्थ स्वरूप निर्धारक'' होने से अर्थपूर्व हो जायेंगे। अतः यह पक्ष अनुभव का व्यभिचारी है। फिर यह कि शब्द–प्रयोग के अभाव में अर्थ का स्वरूप वैसा नहीं होता जैसा कि शब्द प्रयोग के पश्चात् उद्घाटित होता है। अर्थ की कतिपय ऐसी भी स्थितियाँ है, जहाँ शब्द प्रयोग की अव्यपदेश्यता होती है, तो क्या उनका कोई स्वरूप नहीं होता ? उदाहरण के लिए वस्तुस्थिति की आत्यन्तिक विलक्षणता शाब्दिक व्यपदेश्यता के योग्य नहीं होती। ज्ञानात्मक स्थितियों में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और स्वसंवेदन को अव्यपदेश्य कहा जा सकता है। भर्तृहरि किसी भी ज्ञान–स्थिति को इस रूप में स्वीकार नहीं करते जो शब्दानुविद्ध न हो।[6] वस्तुतः उनकी इस मान्यता की पूर्वमान्यता यह है कि जब ज्ञान को स्वरूपतः निराकार माना जाता है तो ज्ञान भाषा में ही आकार पाता है और इस तरह भाषा ज्ञानाकार की 'योनि' बन जाती है। बौद्ध ज्ञान को स्वरूपतः निराकार नहीं मानते बल्कि साकार रूप में अवधारित करते हैं, अतएव भाषा उनकी दृष्टि में ज्ञानाकार की 'योनि' नहीं अपितु विकल्पाकार की 'योनि' बनती है। पुनः, भाषा में शब्दों का जैसा प्रयोग

होता है, उनकी संरचना अपोहात्मक नहीं होती है। यदि शब्द की प्रकृति या स्वरूप ही अपोहात्मक होता तो व्यवहार में शब्दों की बनावट भी ''अनिवार्य'', ''अविसंवादी'' जैसे शब्दों की तरह द्विविध निषेध या अतद्व्यावृत्ति के उपसर्ग, प्रत्यय पूर्वक होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि शब्दोच्चारण के अनन्तर वक्ता और श्रोता में तद्–अत्द का द्वन्द्व उत्पन्न होता है और तदनन्तर अतद् की व्यावृत्तिपूर्वक अर्थबोध होता है। वक्ता की स्थिति में तो बोध को ही शब्द व्यंजित करते हैं और निर्द्वन्द्व रूप में श्रोता उसी से अवगत होता है। इसलिए शब्दोच्चारण के उपरान्त अपोह फलित नहीं होता, बल्कि अपोहित रूप में ही शब्द उच्चरित होते हैं।

अपोहपूर्वक शब्दोच्चारण का तात्पर्य यह है कि शब्द के माध्यम से जिस बोध की अभिव्यक्ति होती है, वह बोध ही अपोह–विशिष्ट होता है।[6] यह अपोह–विशिष्ट बोध निषेधवादियों का बोध नहीं, जिनके मतानुसार पहले अपोह को जानकर बाद में अन्यापोह का विधान होता है, क्योंकि व्यवहार के समय विद्यमान में प्रतीत के विषय का ऐसा क्रम नहीं होता है। अतः इसमें प्रतीतिक्रम का व्यभिचार है। यह विधिवादियों का भी बोध नहीं, जिसके अनुसार पहले विधि रूप से किसी वस्तु को जानकर बाद में अर्थापत्ति से अपोह का समर्थन होता है। यह निरर्थक है, क्योंकि गो–ज्ञान के पश्चात् अश्वादि के ज्ञान से गाय की उनसे भिन्नता तो समर्थित होती है, लेकिन इससे गाय के स्वरूप–ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं होती। अतः गौ का बोध अपने बोध–काल में ही अपोहात्मक होता है। तभी तो गौ–बोध से अश्वादि में प्रवृत्ति न होकर अ–गोव्यावृत्त–गौ में ही सबकी प्रवृत्ति होती है।[8]

वस्तुतः बोध का स्वरूप अपोहात्मक मानने से अन्ततः यही स्वीकार करने में लाघव है कि बोध जिस अर्थ का ज्ञापक या प्रदर्शक होता है, वही स्वरूपतः अपोहात्मक है, क्योंकि बोध कोई स्वतन्त्र तथ्य ही नहीं, यह तो अर्थवशात् होता है। पुनः, बोध और अर्थ का संवाद सम्बन्ध स्वाभाविक रूप से अनिवार्य और नियत है। केवल इन्द्रिय, करण और सन्निकर्ष दोष से उत्पन्न भ्रम की अस्वाभाविक स्थिति को छोड़कर बोध और अर्थ के संवाद सम्बन्ध में अव्याप्ति, व्यभिचार और अन्यथात्व नहीं देखा जाता है। अतएव अर्थ की प्रकृति या स्वरूप ही अपोहात्मक है और इसी की अपेक्षा से बोध और उसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति में अपोह का उपचार होता है।

धर्मकीर्ति ने अपोहवाद के इस पूरे अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि वस्तुरूप पदार्थ में जो शब्द की प्रवृत्ति होती है उसकी निष्ठा व्यावृत्ति

है। व्यावृत्ति रूप अपोह में ही वस्तु का पर्यवसान होता है। बाह्यवस्तु में विद्यमान शक्ति की निष्ठा अन्य शक्तियों के व्यवच्छेद में पायी जाती है किन्तु उस व्यवच्छेद के अभाव में भी उस शक्ति के वाचक शब्द की स्थिति रहती है, अतः शब्द (श्रुति) व्यवच्छेदवाचक है। तात्पर्य यह है कि एक पदार्थ की शक्ति का अन्य पदार्थ की शक्ति से व्यवच्छेद रहता है परंतु व्यवच्छेद में अर्थ शक्ति का पर्यवसान न होने पर भी शब्द व्यवच्छेदात्मक ही हुआ करता है। उदाहरणार्थ कच्चे घड़े में जलाहरण शक्ति न होने पर भी उसके लिए प्रयुक्त घट शब्द घटेतर की व्यावृत्ति का ही अर्थ देता है। वस्तुतः संकेत काल में विकल्पों के प्रतिबिम्बरूप प्रातिभासिक आकारों के साथ शब्द का सम्बन्ध बन जाता है। अतः अन्यापोह ही पदार्थ की निष्ठा है और शब्द अन्यापोहकारी ही होते हैं।[8–क]

अब यदि अर्थ ही अपोहस्वरूप है तो इसकी दो व्याख्याएँ हो सकती हैं। प्रथमतः यह कि बाह्य घट–पटादि अर्थ जिस प्रकार सामान्य अनुभव में प्रस्तुत होते हैं, वे वस्तुगत्या यथार्थ हैं, लेकिन उनका ज्ञान अपोहात्मक रूप से होता है। द्वितीयतः यह कि अपोहात्मक ज्ञान से पृथक् और परे उनका कोई स्वतत्त्व ही नहीं हैं। इसलिए अर्थ अपोहमात्र हैं। न्यावादी बोद्धों की वैचारिकी में बाह्य घट–पटादि अर्थ इसी आशय में अपोहमात्र हैं। बाह्यार्थ की ऐसी अपोहात्मकता अनुभव और व्यवहार के उत्तल धरातल पर अधिगत नहीं होती। यह न तो बैखरी वाणी का विन्यास और न ही अनुभवपूर्व अतीन्द्रिय,[9] बल्कि बुद्धि का प्रत्यक्ष पृष्ठभावी विकल्प है, जिसका भाषा के द्वारा अनिवार्य रूप से अनुगमन किया जाता है। धर्मकीर्ति के अनुसार इसकी व्याख्या तो परमार्थ के अन्वेषक व्याख्याकार ही करते हैं। सामान्यजन तो इसी को यथार्थ समझकर व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं।[10]

धर्मकीर्ति का उपर्युक्त कथन यहाँ विशेष महत्त्व का है और इससे इंगित होता है कि बाह्यर्थों की अपोहात्मकता आनुभविक नहीं है, बल्कि सामान्य अनुभव में जो कुछ गृहीत होता है, वह अपोहित होकर ही सामान्य अनुभव का ज्ञेय–विषय या हमारी भाषा का वाच्यार्थ होता है। अतः बाह्यर्थों के ऐसे अपोहात्मक स्वरूप को उद्घाटित करने के लिए सामान्य अनुभव की बनावट को समझना आवश्यक हो जाता है। सामान्य अनुभव से धरातल पर व्यवहर्त्ता तो किसी वस्तु को उसी रूप में यथार्थ समझता है जैसी कि वह प्रतीत होती है, क्योंकि व्यवहर्त्ता के लिए यह विवक्षा आवश्यक नहीं कि कोई वस्तु ऐसी ही क्यों प्रतीत होती है ? परन्तु परमार्थ की विवक्षा रखने वाले

व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह सामान्य अनुभव के नेपथ्य में आत्म–चेतन विमर्शपूर्वक यह देखे कि कोई वस्तु ऐसी ही क्यों प्रतीत होती है, अन्य प्रकारक क्यों नहीं प्रतीत होती ? धर्मकीर्ति के उपर्युक्त कथन में परमार्थ के अन्वेषक ''व्याख्याकार'' पद का यही आशय अभिप्रेत है। आचार्य दिङ्नाग–धर्मकीर्ति बुद्ध के विभज्यवादी पद्धति का अनुसरण करते हुए अनुभव का विश्लेषण कर संवृत्ति की अलीक अपोहात्मक विकल्परूपता का रहस्योद्घाटन और परमार्थ की विधिरूपता लेकिन बौद्धिक अनभिलाप्यता की तर्कण प्रतिष्ठा करते हैं। धर्मकीर्ति के अनुसार सामान्य अनुभव में हमें दो अत्यन्त भिन्न तत्त्व संश्लिष्ट रूप में प्राप्त होते हैं। इन्हें शक्त–अशक्त, सदृश–असदृश, शब्द का विषय–अविषय, बुद्धि ग्राह्य–अग्राह्य के द्वैविध्य में विभाजित किया जा सकता है। ये परस्पर विरोधी धर्म हैं, जो एक दूसरे को व्यावृत्त करते हैं। इसलिए इनकी समाश्रयता को एकत्व मानना युक्तिसंगत नहीं। यह द्वैविध्य अनुभव में सर्वत्र व्याप्त हैं।[11] जहाँ आवश्यक रूप से परस्पर निवृत्तिमूलक द्वैविध्य प्राप्त हो तो लौकिक न्यायानुसार एक को वास्तविक और दूसरे को आरोपित ही समझना चाहिए। यही आचार्य दिङ्नाग–धर्मकीर्ति के प्रमेय द्वैविध्य और तदनुरूप प्रमाण द्वैविध्य के उपागम का आनुभविक आधार है।[12] प्रमेय द्वैविध्य का तात्पर्य प्रमेय विप्लव को स्वलक्षण और सामान्यलक्षण में व्यवस्थित करना है और प्रमाण द्वैविध्य का तात्पर्य प्रमाण विप्लव को प्रत्यक्ष और अनुमान में नियोजित करना है। स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है।[13] यह किसी वस्तु का अनुभव निरपेक्ष, अकृत्रिम, अकल्पित, अनारोपित स्व–स्वरूप है, जो पूर्वापर भाग से सर्वथा रहित, सर्वतोव्यावृत्त, अयोगव्यवच्छेद–विधि–रूप, अर्थक्रिया का क्षणमात्र, देशकाल और सत्ता की क्षणावच्छिन्न एकनिष्ठता है, जो उत्पत्यन्तर निरन्वय विनाशी होता है। सामान्यलक्षण अनुमान का विषय है।[14] यह किसी वस्तु का अनुभव–सापेक्ष, विकल्पारोपित पर–स्वरूप है, जो विजातीय व्यावृत्तिवशात् सभी आनुभाविक व्यतियों में समान रूप से होता है। यह अभिलाप्य, अलीक, अपोहात्मक, अर्थक्रिया में असमर्थ लेकिन अर्थक्रिया का प्रदर्शक, नामजात्यादि विकल्प–योजना से सम्प्रयुक्त होता है।

(3)

यहाँ ध्यातव्य है कि स्वलक्षण और सामान्यलक्षण समान रूप से सत् और दो समानान्तर सत्ताएँ नहीं हैं। एक ही स्वलक्षण का स्वरूप और पररूप में अध्यवसित होने कारण, वही और एक ही परमार्थ सत् दो स्तरों पर दो

प्रमेयों में विभक्त हो जाता है।[15] स्वलक्षण ही विकल्पित होकर सामान्य–लक्षण के रूप में अध्यवसित होता है। सामान्य अनुभव की परिसीमा में वस्तुनिष्ठ रूप से प्रतीत होने वाली सभी नील–पीत वस्तुएँ बौद्ध नैयायिकों की दृष्टि में अध्यवसित स्वलक्षण ही हैं। अध्यवसाय सामान्य अनुभव का नेपथ्य है, जिसमें बुद्धि अपनी विकल्पात्मक शक्ति से सामान्य अनुभव की संरचना करती है। अध्यवसाय की सम्पूर्ण प्रक्रिया ही अपोहात्मक है, इसलिए सामान्य अनुभव में गृहीत नील–पीत वस्तुओं को अपोह कहा जाता है।[16] इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है– निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (कल्पनाऽपोढ़) द्वारा जब नील–क्षण का ग्रहण होता है तो वह उसके वर्तमानाभाव को व्यावृत्त करते हुए व्यावृत्त वर्तमानाभाव का अविनाभावी अतीत और अनागत भाव को भी व्यावृत्त कर देता है। इस प्रकार कल्पनाऽपोढ़ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा शुद्ध वर्तमानावच्छिन्न भाव का ग्रहण बौद्ध नैयायिक स्वीकार करते हैं। इस स्थिति में प्रत्यक्ष–ग्राह्य–विषय (स्वलक्षण) को आन्तरिक एवं बाह्य कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। यहाँ अभिलाप्यता के लिए कोई अवकाश ही नहीं। प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया अपनी शुद्धता में यहीं विराम को प्राप्त होती है। वस्तुतः बौद्धों का कल्पनाऽपोढ़ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष एक ऐसी स्थिति है जहाँ परमार्थसत् स्वलक्षण ग्राहक चेतना में स्वाकार अर्पित करता है और तत्क्षण बुद्धि की मनोजल्पात्मक क्रिया का आरम्भ भी नहीं हुआ रहता है। तदनन्तर बुद्धि का उत्प्रेक्षणात्मक विकल्प व्यापार आरम्भ होता है।[17] बुद्धि का प्रथम कार्य निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ग्राह्य और ग्राहक दो ध्रुवों में विभक्त कर देना है। यह विभक्तिकरण नील–विज्ञान और उसका विषयात्मक सन्दर्भ नील–वस्तु के रूप में होता है, जिनके मध्य बुद्धि सारूप्य की स्थापना करती है। सारूप्य दो विलक्षण क्षणों का सालक्षण्य है। यह तत्त्वतः नहीं होता बल्कि बुद्धि का कार्य होने से विकल्पात्मक ही है। बुद्धि उसी अनुपात में सारूप्य की स्थापना करती है, जिस अनुपात में वह असारूप्य की व्यावृत्ति करती है।[18] बुद्धि इसी सारूप्य वशात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत क्षणिक प्रतिभास को "शुद्धअन्य" के रूप में बाह्यरूपेण अध्यवसित करती है। "शुद्ध–अन्य" के रूप में स्वलक्षण का अध्यवसाय यद्यपि बौद्धिक एवं विकल्पगर्भित होता है तथापि यह बुद्धि की ही प्रथम निर्विकल्पक स्थिति होने से ग्राह्य–ग्राहक असंवित् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का सजातीय, अविसंवादी होता है। श्चेरबात्सकी[19] के अनुसार यह स्वलक्षणग्राही प्रत्यक्ष और विकल्पात्मक अध्यवसाय की मध्यवर्ती स्थिति है, जो दोनों को जोड़ने का कार्य करती है। धर्म्मकीर्ति के अनुसार यही

"शुद्ध–अन्य" के रूप में बौद्धिक प्रज्ञा का निर्विकल्पक विज्ञान सामान्यजन को लभ्य होता है।[20] "शुद्ध–अन्य" के रूप में ज्ञान का स्वरूप साकल्यात्मक परिप्रेक्ष्य लिये रहता है। साकल्यात्मक ज्ञान का तात्पर्य यह है कि बुद्धि "शुद्ध–अन्य" के ज्ञान को उसके पूरे परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करती है।[21] तत्पश्चात् बुद्धि अपने दृष्टिसाकल्य में उस "शुद्ध–अन्य–विशेष" के अतिरिक्त अन्यों का अशेष रूपेण निषेध करते हुए "शुद्ध–अन्य–विशेष" को पंचविध कल्पनाओं में तत्तद विरूद्ध की व्यावृत्तिपूर्वक विधेयीकृत करती है। यथा–यह चित्रांगदा नाम की शुक्लवर्णा, दूध देने वाली, गोत्व जाति से सम्पन्न गाय द्रव्य है। इसी अतद्व्यावृत्तिपूर्वक "यह गाय है" के अध्यवसाय के कारण सभी गायों में एक समानता की प्रतीति होती है,[22] जो "यह गाय है" के सामान्य अनुभव के नेपथ्य उपचेतन मन में अपोहात्मक रूप से निर्धारित होता है। आनुभविक रूप में सभी गायें एक–दूसरे से भिन्न हैं, फिर भी उनमें एक अतद्व्यावृत्ति रूप व्यापक समानता के कारण "गोत्व सामान्य" या जाति की संकल्पना बुद्धि में आकारित होती है, जो वैसे सभी व्यक्तियों को व्याप्त करता है, जिनमें आश्रय, आलम्बन, आकार आदि की दृष्टि से सादृश्य और एकार्थक्रियाकारित्व की प्रतीति होती है।[23] यहाँ प्रश्न उठता है कि एक ओर तो बौद्ध नैयायिक दो या दो से अधिक व्यक्तियों में समानता का हेतु "समान अतद्व्यावृत्ति" को बताते हैं और दूसरी ओर "समान अतद्व्यावृत्ति" का हेतु दो या दो से अधिक व्यक्तियों में "समान अर्थक्रिया–कारित्व" बताया जाता है तो उनमें समानता का हेतु अतद्व्यावृत्ति मात्र नहीं रह जाता बल्कि अर्थक्रियाकारित्वगत समानता का वस्तुगत हेतु भी प्रकारान्तर से प्रवेश प्राप्त करता है। धर्मकीर्ति इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि कुछ वस्तुओं का स्वभाव ही ऐसा मानने में कोई हानि नहीं है, क्योंकि ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की स्थिति में अर्थक्रिया का स्वरूप ऐन्द्रिक उद्दीपन मात्र होता है, जहाँ किसी प्रकार के व्यवहारयोग्य भेद–ग्रहण की प्रसक्ति भी सम्भव नहीं। यदि कहा जाय कि तब उस अवस्था में विलक्षण क्षणों के द्वित्व का ग्रहण क्यों कर सम्भव होगा ? तो इसके उत्तर में कहा जा सकता कि द्वित्व का ग्रहण भी अपेक्षाबुद्धिपूर्वक ही होता है और ऐसा होने से यह भी विकल्पात्मक ही है। यहाँ तक कि अध्यवसाय पूर्वक ही अर्थक्रिया को को जल की शीतलता और अग्नि की उष्णता से विशेषीकृत किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि समान अर्थक्रियाकारित्व को भी अन्ततः अध्यवसित ही समझना चाहिए। क्योंकि दो या दो से अधिक स्वलक्षणों में एकार्थक्रियाकारित्व

होता है या नहीं, यह बौद्धिक ज्ञान का विषय ही नहीं, बल्कि स्वलक्षणों के पारस्परिक भेद–ग्रहण में असमर्थ बुद्धि भेदाग्रह के कारण "एकाप्रत्ययवमर्श"[24] पूर्वक कुछ अध्यवसित स्वलक्षणों में एकार्थक्रियाकारित्व का आरोप करती है। इसी कारण उसमें एक ही प्रकार की अतद्व्यावृत्ति का उपचार होने से समानता की प्रतीति होती है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि बौद्धेतर दार्शनिक इस अतद्व्यावृत्ति रूप से आकारित होने वाले समानता के सम्प्रत्यय को सामान्य अथवा जाति नामक एक ऐसे पदार्थ के रूप में अवधारित करते हैं जो नित्य और भाव रूप से अनेक व्यक्तियों में एक ही साथ अपनी सम्पूर्णता में अनुगत रहते हुए उन सभी व्यक्तियों से पृथक् एवं परे स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। परंतु मानव बुद्धि की अपोहात्मक प्रकृति को समझे बिना किसी वस्तु सत्ता को जातिविशिष्ट व्यक्ति और व्यक्तिविशिष्ट जाति की "टोपोलॉजी" में स्थापित करना विचारासह्य है। ऐसे सामान्य का तात्पर्य तो एक ऐसी सत्ता से है जो एक साथ अनेक व्यक्तियों में रहते हुए उसी समय व्यक्ति विशेष में उपस्थित और अनुपस्थित दोनों एक साथ होता है क्योंकि एक व्यक्ति में विद्यमान सामान्य अन्यत्र उत्पन्न वस्तु में बिना पूर्व स्थान से हटे अचानक प्रकट हो जाता है। जहाँ वस्तु है, उस स्थान से सम्बद्ध हुए बिना वहाँ की वस्तु को व्याप्त करता है। न वहाँ जाता है, न वहाँ पहले से था और अनायास प्रकट हो जाता है। यद्यपि न उसके अंश हैं, न वह पूर्व आधार को छोड़ता है। इसलिए आचार्य दिङ्नाग के अनुसार एकत्व, नित्यत्व और अनेकसमवेतत्व रूप सामान्य नामक किसी भाव पदार्थ को मानने से ऐसी कठिनाइयों की शृंखला जुड़ जाती है।[25] वास्तव में ऐसा सामान्य काल्पनिक ही हो सकता है। बौद्धों का अतद्व्यावृत्ति रूप सामान्य भी ऐसे सभी गुण–लक्षणों से युक्त बताया जा सकता है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसकी कोई वस्तुनिष्ठ सत्ता है।[26] अतद्व्यावृत्ति रूप सामान्य में एकत्व होता है, क्योंकि यह प्रत्येक वैसे व्यक्तियों में अनुगत है जिनमें एकार्थक्रियाकारिता होती है। अतद्व्यावृत्ति रूप सामान्य नित्य होता है क्योंकि इसका निषेधात्मक आधार तार्किक रूप से कभी नष्ट नहीं होता। अतद्व्यावृत्ति रूप सामान्य प्रत्येक परिवर्तित होने वाले व्यक्तियों में वहीं बना रहता है। अतद्व्यावृत्ति रूप सामान्य प्रत्येक व्यक्तियों में अपनी सम्पूर्णता में समवेत होता है। अतएव बौद्धेतर दार्शनिकों के सामान्य विषयक अवधारणा की अपेक्षा बौद्धों का अतद्व्यावृत्ति रूप से कल्पित सामान्य की संकल्पना में अनेक अनुकूलताएँ एवं तार्किक संगति है जबकि इस रूप में

उसकी कोई भावरूप सत्ता नहीं है। इसलिए तथाकथित सामान्य वस्तुतः वर्ग–विशेष के व्यक्तियों में अनुगत एकत्व, नित्यत्व और अनेक समवेतत्व से युक्त भाव पदार्थ नहीं अपितु यह दो या दो से अधिक अध्यवसित स्वलक्षणों में समान अतद्व्यावृत्ति रूप से कल्पित अलीक बुद्ध्याकार है।[27]

इस प्रकार स्पष्ट है कि अध्यवसाय की सम्पूर्ण प्रक्रिया अपोहात्मक है, जिसे बुद्धि अपनी अध्यक्षता में द्विविध स्तरों पर सम्पादित करती है। प्रथम स्तर पर बुद्धि स्वलक्षण द्वारा ग्राहक चेतना में अर्पित स्वाकार को अन्यव्यावृत्तिपूर्वक " यह है" के रूप में बाह्यरूपेण अध्यवसित करती है। "यह है" का अध्यवसाय आनुभविक रूप में भावात्मक होता है, लेकिन इसकी अपोहात्मकता सामान्य अनुभव के नेपथ्य (उपचेतन मन) में सम्पादित होती है। दूसरे स्तर पर बुद्धि सामान्यीकरण की पद्धति से समान आश्रय, आलम्बन, आकार और अर्थक्रियाकारित्व वाले व्यक्तियों में समान अन्यव्यावृत्ति मूलक समानता के कारण सामान्य या जाति की संकल्पना को आत्मसात् करती है। वस्तुतः अध्यवसाय एक प्रकार से बुद्धि की कार्यशाला है, जिसमें बुद्धि अपनी विकल्पात्मक शक्ति से आनुभविक जगत् की विविधता का निर्माण करती है और स्वयं उसे ही अपोहात्मक रूप में स्थिर भी करती है। वास्तव में अपोहन अथवा व्यावर्त्तन बुद्धि के व्यापार का एक आवश्यक अंग है जिसे बुद्धि अपने व्यापार के सभी स्तरों पर न्यूनाधिक रूप से सम्पादित करती है।[28] अतः शब्दों के वाच्यार्थ रूप बाह्यार्थ अपने आनुभविक स्वरूप में अपोह मात्र ही है। अपोह विषयक न्यायवादी बौद्ध संकल्पना का यही वास्तविक मन्तव्य है।

(4)

अब हम अपोह विषयक बौद्ध संकल्पना के सन्दर्भ में कुछ महत्त्वपूर्ण स्थलों की चर्चा करेंगे, जिनका स्पष्टीकरण अपोहवाद के हृदयंगम के लिए आवश्यक है। बौद्धेतर दार्शनिकों ने "अपोह" की आलोचना विशेषकर इन्हीं स्थलों को स्पर्श करते हुए की है।

सर्वप्रथम यह कि अपोह एक प्रकार का द्वैधिकरण है। बुद्धि की ऐसी स्वाभाविक प्रकृति है कि वह अतद् की व्यावृत्तिपूर्वक तद् का निश्चय करती है, लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या अपोहात्मक निश्चय में बुद्धि सम्पूर्ण विश्व को अतद् और तद् में विभाजित करती है। यदि अपोहात्मक द्वैधिकरण का तात्पर्य ऐसा ही स्वीकार किया जाय तो अपोहवादी बौद्ध संकल्पना अनन्त व्यभिचार और असम्भव दोष से ग्रसित हो जायेगा, क्योंकि किसी वस्तु के निषेध के लिए उसका किसी न किसी रूप में ज्ञान आवश्यक है, लेकिन अतद्

की व्यावृत्ति के लिए तद् के अलावा अतद् वर्ग में आने वाली संसार की यावत् शेष वस्तुओं का ज्ञान असम्भव है। इसलिए उद्योतकर इत्यादि न्यायवैशेषिक दार्शनिकों ने अपोह की आलोचना करने में इस कठिनाई को बखूबी उजागर करते हुए दिङ्नाग (न जाति शब्दो भेदानां वाचकः आनन्त्याद व्याभिचाराच्च) का उपहास किया है। यद्यपि उपरी सतह पर अपोह की संकल्पना में यह कठिनाई उचित प्रतीत होती है तथापि अपोह की संकल्पना इससे मुक्त है क्योंकि अपोहात्मक द्वैधिकरण का तात्पर्य पूरे विश्व को तद्–अतद् में विभाजित करना नहीं है वरन् इस द्वैधिकरण की व्याख्या इस रूप में भी की जा सकती है कि यह दृष्टि–साकल्य (गेस्टाल्ट) में प्रतिफलित होता है। हम अपने दृष्टि–साकल्य को तद् और अतद् में द्वैधिकृत करते हैं। जब हमें किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो हम उस वस्तु को तद्–देशकालावच्छिन्न उसके पूरे परिपार्श्व में जानते हैं। दृष्टि साकल्य में किसी वस्तु विशेष का ज्ञान असन्दिग्ध रूप से होता है, लेकिन उस वस्तु के अलावा दृष्टि–साकल्य में आने वाली शेष वस्तुओं का ज्ञान एक शीर्षक के अन्तर्गत समवेत रूप में होता है। अपोह–पद्धति के अनुसार दृष्टि–साकल्य में एक शीर्षक के अन्तर्गत होने वाले समवेत ज्ञान (अतद्) की व्यावृत्तिपूर्वक ही दृष्टि–साकल्य में किसी वस्तुविशेष (तद्) का ज्ञान असन्दिग्ध रूप में अध्यवसित होता है। यहाँ अवधेय है कि इस प्रकार का व्यावृत्तिमूलक निश्चय व्यक्ति का होता है, 'सामान्य' का नहीं।

अतः अपोहात्मक द्वैधिकरण का तात्पर्य पूरे विश्व को तद् और अतद् में विभाजित करना स्वीकार किया जाए तो अपोह मात्र आकारिक नियम बन कर रह जायेगा, क्योंकि अपोह को आकारिक नियम मानकर ही हम यह कह सकते हैं कि अतद् के निषेध के लिए अतद् वर्ग में आने वाली वस्तुओं का ज्ञान आवश्यक नहीं है। लेकिन अपोहात्मक पद्धति में पूरे विश्व के द्वैधिकरण के स्थान पर दृष्टि–साकल्य के द्वैधिकरण को प्रस्थापित किया जाय तो अपोह को एक ज्ञानमीमांसीय आधार प्राप्त होता है। यदि पूरे विश्व के परिप्रेक्ष्य में किसी ज्ञानविशेष को घटित होना स्वीकार करने के बदले सीमित दृष्टिसाकल्य में ज्ञान का घटित होना स्वीकार किया जाय तो अतद्व्यावृत्त्यात्मक निर्धारण को अनन्त व्यभिचार और असम्भव दोष से ग्रसित नहीं कहा जा सकता। अतः अनन्त व्यभिचार और असम्भव दोष से सम्बन्धित अपोह विषयक आलोचनाएँ अन्यथा और निराधार हैं।

द्वितीयतः यह कि अपोह एक द्विवार निषेध का नियम है। बौद्ध इसे अन्यापोह, अन्यव्यावृत्ति कहते हैं। बौद्धेतर दार्शनिकों ने इसे "तद्भिन्नभिन्नत्व" कहा है। यहाँ अपोह की अवधारणा में 'अ' और 'व्यावृत्ति' का निषेधात्मक उपसर्ग अपोह की संकल्पना को अस्पष्ट कर देता है, क्योंकि बौद्ध और बौद्धतर दार्शनिकों की निषेध विषयक अवधारणाएँ भिन्न–भिन्न हैं। इसलिए वे निषेध विषयक–स्व–स्वीकृत अवधारणा से अपोह की संकल्पना को समझते हैं। यथा–न्यायवैशेषिक दार्शनिकों के लिए निषेध 'अन्योन्याभाव' है, जबकि दिङ्नाग–धर्मकीर्ति के लिए निषेध का अर्थ 'पूर्ण व्यावर्त्तन' है। यदि निषेध को 'अन्योन्याभाव' के अर्थ में प्रयुक्त किया जाय तो द्विवार निषेध बराबर विधि तो हो सकता है, लेकिन द्विवार निषेध के द्वारा 'वही और केवल वही' के रूप में मूल वस्तु तक पहुँचने की तार्किक अनिवार्यता प्रतिफलित नहीं हो सकती। यथा–जो कुछ गाय नहीं है, वह गाय और केवल गाय ही नहीं हो सकती। वह आदमी, हाथी, घोड़ा, बन्दर भी हो सकता है। क्योंकि अन्योन्याभाव के आशय में 'अ–गाय' आदमी या हाथी या घोड़े की एक खुली संहति को सूचित करता है। सम्भवतः जो बौद्ध नहीं है, यथा–प्रशस्तपाद, उद्योतकर, उदयन इत्यादि ने अपोह विषयक बौद्ध संकल्पना को इसी अर्थ में समझा है और उसकी आलोचना की है। दिङ्नाग–धर्मकीर्ति के लिए निषेध का सम्प्रत्यय केवल आंशिक भेद का वाचक नहीं, वरन् पूर्ण व्यावर्त्तन है। पूर्ण व्यावर्त्तन के आशय में द्विवार निषेध के द्वारा अ–गाय की व्यावृत्ति करते हुए 'वही और केवल वही' गाय के प्राप्त होने में तार्किक अनिवार्यता है। उदाहरण के लिए मान लिया जाय कि किसी देश–काल विशेष में हमारा दृष्टि साकल्य क+ख+ग+घ ..... की एक संहति है। इसे हम द्विवार निषेध के द्वैधिकरण में 'क' और 'अ–क' में विभाजित कर सकते हैं। इस द्वैधिकरण में 'अ–क'=(ख+ग+घ) एक बन्द (क्लोज्ड) संहति है, क्योंकि दृष्टि साकल्य में इनका ज्ञान एक शीर्षक के अन्तर्गत समवेत रूपेण होता है। अतः (ख+ग+घ) की बन्द संहति का पूर्ण व्यावर्त्तन 'क' और केवल 'क' को ही निश्चित करता है। बौद्ध नैयायिकों की वैचारिक योजना में 'क' और केवल 'क' अध्यसित स्वलक्षण का द्योतक है। अतएव अपोह विषयक बौद्ध संकल्पना अन्योन्याभाव के आशय में द्विवार–निषेध नहीं, बल्कि पूर्ण व्यावर्त्तन के आशय में द्विवार–निषेध है। इस प्रकार द्विवार निषेध से सम्बन्धित अपोह विषयक आलोचनाएँ भी निरर्थक हैं।

तृतीयतः यह कि अपोह का तात्पर्य अन्यापोह विशिष्ट विधि है या अन्यापोह मात्र है। यह प्रश्न अपोह विमर्शकों के लिए विवाद का विषय रहा है। यद्यपि दिङ्नाग–धर्मकीर्ति के मत में अपोह का स्वरूप अन्यापोह मात्र है,[29] क्योंकि इन्होंने अपोह का विशेष प्रयोग सामान्य विषयक बौद्धेतर संकल्पना का खण्डन तथा सामान्य को अपोह मात्र बताने के लिए किया है। वाचस्पति मिश्र[30] भी बौद्धों के अपोह को इसी अर्थ में ग्रहण करते हैं, तथापि शान्तरक्षित, कमलशील और रत्नकीर्ति ने अपोह का स्वरूप अन्यापोह विशिष्ट विधि निर्देशित किया है। श्चेरबात्सकी और धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री[31] अपोह सिद्धि का उद्धरण देते हुए इसी का अनुकरण करते हैं। उपर्युक्त दोनों प्रकार की धारणाओं को समन्वित करते हुए कहा जा सकता है कि दिङ्नाग–धर्मकीर्ति की अवधारणात्मक योजना में अपोह अन्यापोह विशिष्ट विधि और अन्यापोह मात्र दोनों हैं। अपोह जब अध्यवसित स्वलक्षण के लिए प्रयुक्त होता है तो अपोह का तात्पर्य अन्यापोह विशिष्ट विधि है, क्योंकि अतद् व्यावृत्तिपूर्वक तद् अध्यवसित स्वलक्षण का विधायक होता है जो परमार्थतः विधि रूप तो नहीं लेकिन संवृत्ति की अनुमत सीमा में उसी को यथार्थ मानकर विधि रूप से व्यवहृत किया जाता है। रत्नकीर्ति ने इसी आशय में अपोह को अन्यापोह विशिष्ट विधि स्वीकार किया है।[32] दूसरे स्तर पर जब अपोह सामान्य या जाति के लिए प्रयुक्त होता है तो अपोह का तात्पर्य अन्यापोह मात्र अभिप्रेत है, क्योंकि इसमें यत्–किंचित् सांवृत्तिक विधिरूपता का भी अभाव होता है। यह तो कुछ अध्यवसित स्वलक्षणों में प्रयुक्त समान अतद्व्यावृत्तिवशात् बुद्धि में आकारित 'मेटा कॉन्सेप्ट' है। अन्यापोह विशिष्ट विधि शान्तरक्षित का अर्थात्मक अपोह है, जबकि अन्यापोहमात्र रूप में यह अलीक और बुद्धयात्मक है। यहाँ हमें विकल्पों के अर्थात् विकल्पीकरण के दो स्तर प्राप्त होते हैं। प्रथम, स्वलक्षण के सन्दर्भ में और दूसरा सामान्य लक्षण के सन्दर्भ में। जब स्वलक्षण नामजात्यादि प्रत्यक्ष पृष्ठभावी विकल्पों से अध्यवसित होकर सामान्यलक्षण बनता है तब अर्थात्मक अपोह होता है। दूसरे स्तर पर गो–व्यक्ति के रूप में सामान्यलक्षण के सन्दर्भ से समान–अतद्व्यावृत्तिपूर्वक 'गोत्व जाति' की संकल्पना बुद्धि में आकारित होती है। इसे बुद्धयात्मक अपोह के रूप में समझा जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दिङ्नाग–धर्मकीर्ति के प्रमेय द्वित्व और प्रमाण द्वित्व की वैचारिक योजना में अर्थक्रिया का क्षणमात्र स्वलक्षण ही परमार्थतः विधि है, जिसे बुद्धि अपनी विकल्पात्मक शक्ति से अध्यवसित कर

आभोग्य बनाती है, लेकिन स्वलक्षण के उत्पत्यन्तर निरन्वय विनाशी होने के कारण बुद्धि को उसका विकल्पित रूप ही गृहीत होता है और विकल्पीकरण की प्रक्रिया में 'अपोह' आवश्यक रूप से अन्तर्विष्ट रहता है। वास्तव में यह किसी वस्तु के व्यष्टित्व की पूर्वापेक्षा है और उसी व्यष्टि को व्यवहर्ता (पृथक्जन) अनादि–वासना के प्रभाववश यथार्थ समझते हैं और उसी के सहारे पुरुषार्थी ऐसे क्षण संतान तक पहुँचता है जो अनभिष्ट नहीं होती। अतएव यदि सामान्य अनुभव की प्रामाणिकता वांछित वस्तु के प्रापण और अवांछित वस्तु के वर्जन पर निर्भर करती है तो सामान्य अनुभव की अपोहात्मकता उसकी पूर्वापेच्छा है। अपोहात्मक अनुभव के विषय (बाह्यार्थ) अपोहमात्र हैं, यह न्यायवादी बौद्धों की विशेष तत्त्वमीमांसीय चिन्ता है। ज्ञानश्री मित्र ने ठीक ही कहा है–"परमार्थ की अनभिलाप्यता में ही अपोह का अभिनिवेश है"।

(5)

अब अपोहपाद के उपर्युक्त प्रतिपादन के पश्चात् शब्दार्थ सम्बन्धी अन्य सिद्धान्तों की समीक्षा आवश्यक प्रतीत होती है। भारतीय भाषा दर्शन के परिप्रेक्ष्य में शब्दार्थ की अपोहात्मकता अपने आप में एक ऐसे विलक्षण और विस्थापक पक्ष को उपस्थापित करता है कि बौद्ध और बौद्धेतर परम्परा के बीच इस बात को लेकर उत्तरोत्तर वाद–विवाद का एक लम्बा इतिहास देखने को मिलता है। पूर्व के प्रतिपादन में हमने नैयायिकों एवं मीमांसकों के द्वारा अपोहवाद के विरोध और बौद्ध नैयायिकों द्वारा अपने पक्ष की पुनः स्थापना को यत् किंचित् स्पष्ट करने का प्रयास किया है। परन्तु यहाँ हम विशेष रूप से उन सिद्धान्तों की समीक्षा करने का प्रयास करेंगे जिन्हें शान्तरक्षित ने पूर्वपक्ष के रूप में सद्यः भर्तृहरि के वाक्यपदीयम् से ग्रहण किया है। स्वयं भर्तृहरि यद्यपि अपोद्धार से प्राप्त पदार्थ के विषय में बारह प्रकार के मतों का उल्लेख करते हैं तथापि इन सिद्धान्तों की ऐतिहासिकता, इनका तार्किक क्रम और यहाँ तक कि इनका परस्पर सम्बन्ध भी बहुत स्पष्ट नहीं है। इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाली कारिकाओं की वृत्ति भी उपलब्ध नहीं होने के कारण समस्या और भी गम्भीर हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि भर्तृहरि ने जिन बारह मतों का उल्लेख किया है वे परस्पर असंकीर्ण न होकर एक ही वस्तु के भिन्न–भिन्न पक्ष हैं। शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में 'अस्त्यर्थादीनांशब्दार्थता' कहते हुए भर्तृहरि द्वारा सन्दर्भित बारह सिद्धान्तों में से छह सिद्धान्तों को और सातवें सिद्धान्त के रूप में भर्तृहरि के प्रतिभा–सिद्धान्त को पूर्वपक्ष बनाया है।

(1) अरत्त्यर्थ सिद्धान्त – इस सिद्धान्त के अनुसार सभी शब्दों का सामान्य रूप से अस्ति–सत्ता ही शब्दार्थ होता है। उनमें कोई विशिष्ट रूप या संवेदी आकार सम्मिलित नहीं रहता है। उदाहरण के लिए अपूर्व, देवता और स्वर्ग जैसे शब्दों से हम कुछ अर्थ ग्रहण करते हैं लेकिन उस कुछ में कोई विशिष्ट रूप या आकार सम्मिलित नहीं रहता है।[33] अवधेय है कि इन शब्दों के अर्थों में विशिष्ट रूप अथवा आकार का सम्मिलित नहीं होना इनकी अर्थवत्ता को प्रभावित नहीं करता है। यदि कोई कहे कि भाषा में प्रयुक्त गाय, अश्व आदि शब्दों से जिस अर्थ का प्रत्यायन होता है उसमें उन–उन वस्तुओं के विशिष्ट रूप सम्मिलित होते हैं तो यह एक संयोग मात्र है कि ये शब्द जिस वस्तु का अर्थ बोध कराते हैं उसका एक विशिष्ट रूप भी है जिसका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है। तात्पर्य यह है कि वस्तुओं का विशिष्ट रूप या आकार अर्थ प्रत्यायन की परिधि में नहीं आता क्योंकि इन्द्रिय ग्राह्य विशिष्ट रूप या संवेदी विम्ब के बिना भी शब्द अर्थवान् होते ही हैं। अतः शब्दों का वही अर्थ लेना अधिक लाघव परक है जो सभी उदाहरणों में अपरिवर्तनीय रूप से विद्यमान रहता है। ऐसा अपरिवर्तनीय अर्थ अस्त्यर्थ अर्थात् अस्ति मात्र ही हो सकता है।

शान्तरक्षित ने सामान्य रूप से इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कहा है कि अस्ति से जो अभिव्यक्ति होता है, उसके रूप विशेष के स्वरूप का निर्धारण न होने के कारण भिन्न–भिन्न शब्दों का–गौ, गवय, गज आदि में–भेदपूर्वक व्यवहार नहीं हो सकेगा और इस तरह उन शब्दों से उन–उन पशुओं का अभिधान भी नहीं हो पायेगा।[34] पुनः इस सिद्धान्त का विशेष रूप से खण्डन करते हुए शान्तरक्षित यह प्रश्न उठते हैं कि अस्ति से जो अभिव्यक्त होता है वही शब्दार्थ है तो यह वस्तुओं का स्वलक्षण है अथवा जाति है अथवा सम्बन्ध है अथवा कुछ अन्य है जो बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है।[35] इसमें स्वलक्षण के अर्थ में अस्त्यर्थ शब्द वाच्य नहीं हो सकता क्योंकि संकेत और व्यवहार काल के साथ स्वलक्षण का सम्बन्ध नहीं हो सकता (संकेतव्यवहाराप्त कालव्याप्तिवियोगतः)। पुनः अस्त्यर्थ को सामान्यवाचक रूप में भी स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि एक ओर जाति की सत्ता ही विचारासह्य है तो दूसरी ओर वह अनन्त व्यक्तियों का वाचक नहीं हो सकता (न जातिशब्दो भेदानां वाचकः आनन्त्यात्')। यदि अस्त्यर्थ से 'योग' अर्थात् जाति विशिष्ट व्यक्ति की शब्दार्थता मानी जाय तो वह भी विचारासह्य है क्योंकि जाति–व्यक्ति सम्बन्ध को लेकर आचार्य दिङ्नाग द्वारा उपस्थापित

'व्यसनसन्तति' सर्वविदित है। अन्ततः यदि बुद्धि में प्रतिबिम्बित बुद्धयाकार को ही अस्त्यर्थ माना जाय तो बुद्धयाकार भी बुद्धि में ही स्थित है, पृथक् नहीं और इसी प्रकार बुद्धि के समान ही वह न तो ज्ञात अर्थ का अनुमान करता है न ही अन्य बुद्धि का, क्योंकि संकेत–व्यवहार काल में यह उपस्थित नहीं रहता। इसलिए स्वलक्षण की तरहं उसका भी संकेत सम्भव नहीं।[36]

(2) समुदाय सिद्धान्त – इस सिद्धान्त के अनुसार शब्द से वस्तुओं के समुदाय का बोध होता है।[37] किन्तु उस समुदाय की वस्तुओं के व्यष्टिरूप या समष्टि रूप का स्पष्ट रूप से कुछ भी बोध नहीं होता। उदाहरण के लिए जब ब्राह्मण शब्द का उच्चारण किया जाता है तो उससे न तो तप अथवा जाति अथवा शास्त्र ज्ञान की विकल्पत्वेन् स्पष्ट प्रतीति होती है और न ही तप, जाति और शास्त्रज्ञान की समुच्चय रूप से, अपितु तप इत्यादि की एक समष्टि के रूप में अन्य सभी अवधारणाओं से व्यवच्छिन्न होकर प्रतीति होती है। यहाँ विकल्प का अर्थ किसी समूह के बहुत से व्यक्तियों में से किसी एक व्यक्ति का स्पष्ट ज्ञान और समुच्चय का अर्थ है ऐसे निश्चित संख्या के व्यक्तियों की स्पष्ट संकल्पना जो आपस में एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। शब्दों के माध्यम से जो बोध उत्पन्न होता वह विकल्प और समुच्चय दोनों से स्वतंत्र होता है। शान्तरक्षित ने इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए केवल इतना ही कहा है कि समुदाय सिद्धान्त जाति सिद्धान्त का ही एक पर्याय है, क्योंकि समुदाय को शब्दार्थ मानने पर उसमें सामान्य और विशेषों का स्पष्ट समावेश दिखाई पड़ता है। अतः समुदाय सिद्धान्त को भी उन सभी दोषों से ग्रस्त कहा जा सकता है जो जाति सिद्धान्त में पाये जाते हैं।[38]

(3) असत्य संसर्ग और असत्योपाधि सत्य सम्बन्ध का सिद्धान्त – शान्तरक्षित ने इन दोनों सिद्धान्तों का पूर्वपक्ष के रूप में अनुवाद अलग–अलग किया है लेकिन उनका खण्डन एक ही साथ किया है। असत्यसंसर्ग सिद्धान्त के अनुसार शब्द से किसी अपरिभाषित सामान्य वस्तु और विशेष वस्तु के पारस्परिक संबंध का बोध होता है। इस संबंध को असत्य माना जाता है क्योंकि शब्द से उन संबंधित वस्तुओं का बोध नहीं होता और न उनका उनके व्यष्टि. रूप में ही बोध होता है। उदाहरण के लिए जब हम अलातचक्र का प्रत्यक्षीकरण करते हैं जो उस समय उसके प्रत्येक व्यष्टियों का दर्शन न कर समुदाय रूप से समग्र अलातचक्र का ही दर्शन करते हैं।[39]

पुनः असत्योपाधि सत्य संबंध सिद्धान्त के अनुसार शब्द से किसी वास्तविक वस्तु और उसके अवास्तविक गुणों के पारस्परिक संबंध का

बोध होता है।[40] उदाहरण के लिए सोना हार, कंगन इत्यादि विभिन्न आभूषणों का रूप धारण करता है किन्तु इन आभूषणों का वास्तविक अस्तित्व नहीं है। वास्तविक अस्तित्व तो केवल सोने का है जो इन सब में व्याप्त रहता है। आभुषणों के विगलित हो जाने पर शेष केवल सोना ही बचता है। अतः शब्द से अवास्तविक अर्थात् औपाधिक विशेषणों से युक्त इसी वास्तविक सत्ता का बोध होता है। भर्तृहरि ने शब्दार्थता संबंधी इस सिद्धान्त को बहुत महत्त्व दिया है और अपने वाक्यपदीय के तृतीय कांड में इस पर एक पूरा परिच्छेद ही लिखा है।

शान्तरक्षित ने उपर्युक्त दोनों सिद्धांतों की आलोचना करते हुए कहा है कि संबंध और सामान्य दोनों ही मानसिक रचनायें हैं और स्वलक्षणों को उनसे संबंधित नहीं किया जा सकता। अतः शब्दों से समान्य और विशेष के संबंध का बोध नहीं हो सकता। पुनः सत्य और असत्य विशेषणों का संबंध व्याघातपूर्ण प्रतीत होता है क्योंकि सत्य और असत्य का अस्तित्व एक साथ संभव नहीं। ऐसे ही द्रव्य नाम की कोई वस्तु नहीं जो अपने गुणों में व्याप्त हो। वस्तुतः गुणों का ही अस्तिस्व है, गुणातिरिक्त और गुणाश्रय नामक द्रव्य जैसा कोई तत्त्व ही नहीं। यह विचार कि द्रव्य अपने गुणों में व्याप्त रहने वाला तत्त्व है, हमारे मन की कल्पना मात्र है। अतः उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं किया जा सकता।[41]

(4) अभिजल्प सिद्धान्त – इस सिद्धान्त के अनुसार किसी शब्द से उस शब्द का ही बोध होता है, किन्तु मात्र उस शब्द के रूप में नहीं बल्कि, बाह्य वस्तु से संलयित रूप में शाब्दबोध होता है। सतत् अभ्यास के कारण हमारी यह धारणा बन जाती है कि जगत् की वस्तुएँ वास्तविक हैं। अतः हम शब्दों में वस्तु के आकार का समारोपण कर देते हैं। इस समारोपण के कारण ही ऐसी मिथ्या धारणा पनप जाती है कि शब्द और वस्तुएं एकरूप है।[42] जब शब्द वस्तु से संलष्टि अवस्था में होते हैं तो उन्हें अभिजल्प की अवस्था में कहा जाता है। उदाहरण के लिए 'यह गाय है' इस वाक्य में हम गाय शब्द को वास्तविक गाय से अभिन्न मान लेते हैं और यह धारणा बना लेते हैं कि इससे स्वलक्षण रूप वास्तविक गाय का बोध होता है।

शांतरक्षित इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए तीन विकल्पों को उपस्थापित किया है। प्रथमतः यह कि संलयन या तो शब्द और वस्तु के बीच हो सकता है। द्वितीयतः यह कि संलयन शब्द और सामान्य के बीच हो सकता हैं तथा तृतीयतः यह कि संलयन शब्दों और वस्तुओं के बीच केवल

संज्ञान में हो सकता है। उपर्युक्त विकल्पों में प्रथम विकल्प सम्भव नहीं क्योंकि शब्द और वस्तु एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न है। उनका साक्षात्कार भी भिन्न–भिन्न इन्द्रियों के द्वारा होता है। अतः उनके बीच संलयन का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार द्वितीय विकल्प भी अमान्य है क्योंकि सामान्य काल्पनिक और अवास्तविक है। अतः सामान्य और शब्दों के बीच भी संलयन का प्रश्न नहीं उठता। यदि तृतीय विकल्प को स्वीकार किया जाय तो संलयन सिद्धान्त और प्रत्यय सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं रह जाता। परिणामतः शब्द का अर्थ आत्मनिष्ठ हो जाएगा और उससे किसी वस्तुनिष्ठ सत्ता का बोध नहीं होगा।[43]

(5) आरोपण सिद्धान्त :– इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तु और प्रत्यय नाम की दो प्रकार की सत्ताएं हैं। वस्तुयें प्रत्ययों के तत्त्व हैं। इन वस्तुओं के आकारों की अभिव्यक्ति प्रत्ययों द्वारा होती है। प्रत्ययों द्वारा वस्तुओं की इस अभिव्यक्ति को हम वस्तु समझ बैठते हैं। अतः प्रत्यय अर्थात् बुद्धयारुढ आकार ही शब्दार्थ है।[44] इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्यय ही वास्तविक हैं क्योंकि ये ही हमारी क्रियाओं के आधार हैं। यह मात्र हमारी कल्पनाओं की सृष्टि नहीं है क्योंकि काल्पनिक वस्तु का क्रिया से सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु शब्द से मात्र प्रत्यय का भी बोध नहीं होता। जब प्रत्यय का आकार द्रव्यादि बाह्य वस्तुओं पर अंकित होता है तब द्रष्टा को यह बाह्य वस्तु के रूप में प्रतीत होता है और द्रष्टा उसे अर्थक्रियाकारित्व से युक्त समझता है। अतः शब्दों से उस प्रत्यय का बोध होता है जो बाह्य वस्तु पर आरोपित होती है।

शान्तरक्षित इस सिद्धांत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि ऊपर से देखने पर आरोपण सिद्धांत अपोहवाद की मूलभूत दृष्टि से मेल खाता हुआ प्रतीत होता है लेकिन वास्तव में इन दोनों सिद्धांतों में बहुत बड़ा अन्तर है। आरोपण सिद्धांत के अनुसार शब्द–प्रत्यय के द्वारा जो जाना जाता है वह बुद्धयाकार नहीं होता बल्कि वह बाह्यार्थ वस्तु होती है जो अर्थक्रियाकारी होती है लेकिन तब भी उस बाह्यवस्तु के पारमार्थिक स्वरूप का इसके द्वारा ज्ञान नहीं होता।[45] कारण यह है कि आरोपण के अनुसार बाह्यार्थ का अध यवसाय बाह्यार्थों के पारमार्थिक स्वरूप के अनुसार नहीं होता बल्कि अध यवसाय के अनुरूप ही वस्तु को स्वीकार किया जाता है। इसलिए शब्दार्थ वह है जो समारोपित होता है और जो समारोपित है वह कुछ भी नहीं, अतएव शब्दों के द्वारा वास्तव में कुछ भी अभिहित नहीं होता। इसके विपरीत अपोहवादी मान्यता के अनुसार शब्दों के द्वारा वाच्य किसी भी वस्तु को

अथवा बुद्ध्याकार को वास्तविक नहीं माना जाता। यह धारणा कि वस्तुओं का बाह्य रूप में अस्तित्व है, एक मिथ्या धारणा है जिसका बीज इतरेतर व्यावृत्ति में निहित है। शब्द के द्वारा इसी व्यावृत्ति का बोध होता है।[46]

(6) प्रतिभा सिद्धान्त – इस सिद्धांत के अनुसार शब्द के द्वारा किसी वस्तु का सद्यः बोध नहीं होता है (शब्दो न तु बाह्यार्थ प्रत्यायक इति) समस्त शब्द अभ्यास से प्रतिभा (अन्तदृर्ष्टि) के जनक होते हैं।[47] किसी वस्तु के लिए एक ही शब्द की पुनः पुनः प्रवृत्ति को अभ्यास कहते हैं। प्रतिभा वह मानसिक शक्ति (बुद्धि) है जो किसी निश्चित कारण से उत्पन्न हुई क्रिया का ज्ञान करा देती है (नियत साधनावच्छिन्नक्रियाप्रतिपत्त्यनुकूला प्रज्ञा प्रतिभा)। यह मानसिक क्षमता या प्रतिभा की उत्पत्ति तभी होती है जब शब्द किसी निश्चित प्रचलन के संसर्ग में आता है। शब्दों के प्रचलन विविध हैं। अतः प्रतिभा भी विविध है और यहाँ तक कि प्रतिव्यक्ति भिन्न भी है। भर्तृहरि ने स्वभाव, चरण, भोगनिमित्त, अदृष्ट, अभ्यासनिमित्त और विशिष्टोपहित आदि इसके षड्विध भेदों का प्रतिपादन किया है। चूंकि शब्दों का व्यवहार अनन्त होता है, इसीलिए इसके अपरिमित भेद हो सकते हैं। जिस प्रकार महावत के अंकुश का प्रहार हाथी में विभिन्न वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कराने के लिए मानसिक क्षमता उत्पन्न करता है, उसी प्रकार वृक्ष, गाय, अश्व आदि विविध शब्द सतत् अभ्यास द्वारा व्यक्तियों के मन में क्षमता उत्पन्न करते हैं। भर्तृहरि का कथन है कि बड़े से लेकर छोटे तक एवं पशु–पक्षी भी इस क्षमता से सम्पन्न होते हैं और परिस्थिति को भांप कर अपना–अपना कार्य करते हैं। यदि इस सिद्धान्त को नहीं स्वीकार किया जाय तो कथा इत्यादि की इतनी परस्पर विरोधी और बहुविध व्याख्यायें कैसे सम्भव हो सकती हैं।

शान्तरक्षित[48] इस सिद्धांत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि प्रतिभा को यदि बाह्यार्थ विषयक माना जाय तो बाह्य विषय के एकात्मक और नियत स्वभाव होने के कारण तद्विषयक अनेक प्रतिभा कैसे हो सकती है? पुनः प्रतिभाओं को निर्विषय माना जाय अर्थात् केवल वासना मात्र वाला माना जाय तो उससे बाह्य अर्थों में प्रवृत्ति और प्रतिपत्ति कैसे संभव होगी ? यदि यह माना जाय कि अपने ही स्वरूप द्वारा प्रतिभासित अनर्थ में अर्थ के निश्चय द्वारा भ्रान्ति से प्रतिपत्ति एवं प्रवृत्ति होती है तो शब्दार्थ को भी भ्रान्त ही मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में इस भ्रान्ति का कुछ कारण भी होना चाहिए। यदि भ्रान्ति कारण रहित है तो यह सदा और सर्वत्र होगी। यदि भ्रान्ति का कारण पदार्थों का परस्पर भेद माना जाय तो इससे अपोहवाद का ही समर्थन होगा।

यहाँ अवधेय है कि शान्तरक्षित ने प्रतिभा सिद्धांत की आलोचना शब्दार्थ सिद्धांत के रूप में की है लेकिन भर्तृहरि ने प्रतिभा को वाक्यार्थ सिद्धांत के संदर्भ में स्वीकार किया है। भर्तृहरि के लिए भाषा की मूल इकाई एकीकृत रूप में वाक्य ही है और एकीकृत वाक्य का वाक्यार्थबोध प्रतिभा है। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि दिङ्नाग ने भी वाक्यार्थ बोध के सन्दर्भ में प्रतिभा–सिद्धान्त को ही स्वीकार किया है।

अपोद्धारे पदस्यायं वाक्याद् अर्थो विवेचितः।
वाक्यार्थः प्रतिभाख्योयम् तेनादावुपजायते।।

अब प्रमाण समुच्चय में प्राप्त दिङ्नाग की यह कारिका एक बहुत बड़ी समस्या को उत्पन्न करता है कि एक ओर शान्तरक्षित अपोहवाद के संदर्भ में प्रतिभा सिद्धांत का खण्डन करते हैं तो दूसरी ओर अपोहवाद के जनक दिङ्नाग अपोद्धार और प्रतिभा–सिद्धांत को उसी रूप में स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं जैसे कि भर्तृहरि ने स्वीकार किया है। अतः स्फोटवादी भर्तृहरि का प्रतिभा सिद्धांत और अपोहवादी दिङ्नाग का प्रतिभा सिद्धांत एक ही है या दोनों में सूक्ष्म अवधारणात्मक भेद है, यह विचारणीय हो जाता है। दिङ्नाग का प्रमाणसमुच्चय सम्पूर्णतः उपलब्ध नहीं होने के कारण और परवर्ती बौद्ध नैयायिकों द्वारा वाक्यार्थ बोध पर स्पष्ट विचार नहीं किये जाने के कारण सम्प्रति इस समस्या पर अन्तिम रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं।

दर्शन विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर - 470003 (म.प्र.)

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. *पतंजलि, महाभाष्य 1.1 – सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे।*
2. *इतिविषयक न्याय परम्परा के दार्शनिकों के अभिमत इसप्रकार हैं। प्रथम शक्ति को 'ईश्वरेच्छा' स्वीकार किया गया है और व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तादि अष्टविध हेतुपूर्वक शक्तिग्रह स्वीकार किया गया है।*
3. *धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिक–प्रमाणसिद्धि परि. 4, वक्तृव्यापार विषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते। प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्व निबन्धनम्।।*
4. *वही, 3–शाब्देऽप्य अभिप्राय निवेदनात्।*

5. दिङ्नाग–अन्यशब्दार्थापोह स्वार्थकुर्वति श्रुतिर्भिद्यते। और धर्मकीर्ति–प्रमाणवार्त्तिक (मनो.) स्वार्थनु. परि. 98–तदन्य परिहारेण प्रवर्तेति च ध्वनिः।
6. वाक्यपदीय–न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।
7. रत्नकीर्ति, अपोहसिद्धि (सिक्स बुद्धि. न्या.•ट्रेक्ट्स) एशिया. सो., 1989, पृ. 3.
8. वही, पृ 4–यदि शब्दार्थ प्रतिपत्ति काले कालितो न परापोहः, कथं अन्यपरिहारेण प्रवृत्तिः।
8– क. वस्तूनां विद्यते तस्मात् तन्निष्ठा वस्तुनिश्रुतिः। बाह्यशक्ति–व्यवच्छेदनिष्ठाभावेपि तच्छ्रुतिः।। विकल्प प्रतिबिम्बेषु तन्निष्ठेषु निबध्यते। ततोन्यापोह निष्ठत्वादुक्तान्या पोहकृच्छ्रुतिः।। प्रमाणवार्त्तिक 2/163–64
9. श्चेरवात्सकी – बुद्धि. लॉजिक, भाग 2, डोवर प्रकाशन, 1962, पृ. 457. श्चेरवात्सकी महोदयन ने काण्टीयन प्रभाव में अपोह को "ट्रान्शेण्डेन्टल डायलेक्टिक" कहा है। अपोह का ऐसा अर्थ स्वीकार करने से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा परमार्थ सत् स्वलक्षण का अग्रहण स्वीकार करना होगा। इसे स्वयं श्चेरवात्सकी महोदय भी स्वीकार नहीं करते। यदि "ट्रान्शेण्डेन्टल डायलेक्टिस" से उनका आशय प्राग् बौद्धिक है तो हमें कोई आपत्ति नहीं, लेकिन बाद के पृष्ठों में "ट्रान्शेण्डेन्टल डायलेक्टिक" पद को काण्ट के प्रागनुभविक अर्थ में ही उन्होंने स्पष्ट किया है।
10. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक (स्ववृत्ति) कर्णगोमिटीका सहित, किताब महल, प्रयाग, पृ. 170–व्याख्यातार एवं विवेचयन्ति तु व्यवहर्तारः... तदभिप्रायवशादेवमुच्यते।
11. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक (मनो.) प्रत्यक्ष परि. 1.2–सर्वत्र द्वैविध्य संग्रहात्।
12. वही–मानं द्विविधं विषय द्वैविध्यात्।
13. धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु 12, 14–तस्य विषयः स्वलक्षणम्। तदेव परमार्थसत्।
14. वही, 16, 17–अन्यत् सामान्यलक्षणम्। सोऽनुमानस्य विषयः।
15. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, प्रत्यक्षपरि. 53–54 मेयं त्वेकं स्वलक्षणम् ... स्वपर रूपाभ्यां गतेर्मेयद्वयं मतम्।
16. मोक्षाकार गुप्त, बौद्धतर्कभाषा, प्रो. बी.एन. सिंह (अंग्रेजी अनुवाद), पृ. 88, आशा प्रकाशन, वाराणसी–यथा ध्यवसायं वाह्य एव घटादिरर्थः अपोह इत्यभिधीयते।
17. धर्मोत्तर, न्याय बिन्दु टीका, प्रत्यक्ष परि. 21. उत्प्रेक्षणं तु विकल्प व्यापारः ..... अनुभवाद अध्यवस्यन्ति।
18. वही, 21–तस्माद असारूप्य व्यावृत्या सारूप्यं ज्ञानस्य व्यवस्थापन हेतुः।
19. श्चेरवात्सकी, बुद्धि. लॉजिक, भाग 2, वही, पृ. 207.
20. वही, पृ. 206, वस्तुतः दिङ्नाग–धर्मकीर्ति की ज्ञानमीमांसा में यह स्थल टीकाकारों (यथा–धर्मोत्तर, दुर्वेकमिश्र) के लिए विवादस्पद रहा है। विकल्पात्मक अध्यवसाय के मध्य सविकल्प गर्भित निर्विकल्पक बौद्धिक प्रज्ञा की स्थिति दिङ्नाग–धर्मकीर्ति की प्रमाणमीमांसा के लिए शास्त्रीय आवश्यकता है। यदि इसे स्वीकार न किया जाय तो धर्मकीर्ति का यह कथन कि "यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभास भेदस्तत् स्वलक्षणम्" किस प्रकार प्रासंगिक होगा (लेखक की टिप्पणी)।

21. धर्मोत्तर, न्याय बिन्दु टीका, 2. 28–यथा चैकज्ञान संसर्गिणि प्रत्यक्षं घटस्य प्रत्यक्षत्वम्।
22. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, प्रत्यक्ष परि. 10,–सर्वत्र समरूपत्वात् तद् व्यावृत्ति समाश्रयात्।
23. धर्मकीर्ति, स्वार्थानु. परि. (स्ववृत्ति) 109–एककार्यता सादृश्यम्। और प्रमाणवार्त्तिक (मनो.) टीका में मनोरथनन्दी ने समानता के प्रत्यय को हेतुपूर्वक बताया है–"आश्रयालम्बनाकारकालद्रव्यसमतादिभिः समं प्रयुक्ता सम्प्रयुक्ताः", प्रमाणसिद्धि परि. 216.
24. वही, 111–एकप्रत्ययवमर्शस्य ... व्यक्तिनामप्यभिन्नता।
25. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक स्वार्थनुमान परि. 152–53–अनन्यत्वेऽन्वयाभावादन्यत्वेऽप्य नपाश्रयात्। न याति न च तत्रसीदस्ति पश्चान्न चांशवत्।। जहाति पूर्व नाधारमहो व्यसन सन्ततिः। अन्यत्र वर्त्तमानस्य ततोऽन्यस्थानजन्मति।।
26. शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह, शब्दार्थपरिक्षा, 315.
27. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, स्वार्थानुमान परि. 134–तैनान्यापोह विषयाः प्रोक्ताः सामान्य गोचराः।
28. बुद्धि के बहुआयामिक व्यावर्त्तन व्यापार के लिए भी यशदेव शल्य की पुस्तक 'चिद्विमर्श' का 'आत्म और अनात्म' अध्याय विशेष रूप से द्रष्टव्य है।
29. धमीकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, स्वार्था. परि. 77–78. तस्यां यद्रुपमाभाति बाह्यमेक मिवान्यतः।
30. वाचस्पति मिश्र, न्यायकणिका, पृ 186–व्यावृत्तिमिवनिस्तत्वं परीक्षा भगं भावतः।
31. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, क्रिटिक ऑफ इण्डियन रियलिज्म, पृ 309, आगरा विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1964.
32. रत्नकीर्ति, अपोहसिद्धि (सिक्स न्याय बुद्धि. ट्रेक्ट्स) एशियाटि. सोसायटी 1989, पृ. 6– अपोह शब्देनान्यापोह विशिष्टो विधि रूच्यते। ... विधि शब्देन च यथाध्यवसाय मतद्रुपपरावृत्तो।
33. तत्त्व संग्रह–886–अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम् अपूर्व देवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु (वाक्यपदीय–2–119)
34. तत्त्वसंग्रह–893–पतिपाद्ये न भेदेन व्यवहारोऽवकलप्यते।
35. वही–892–तत्रास्त्यर्थोऽयं किं स्वलक्षणमिष्यते।।
जातिर्योगोऽथ तद्वाऽन्यबुद्धेर्वाप्रतिबिम्बकम्।।
36. वही–884–बुद्धयाकारश्च बुद्धिस्थो नार्थ बुद्धयन्तरानुगः।
37. वही–887–समुदायोऽभिधेयोवाऽप्यविकल्पसमुच्चयः। (वाक्यपदीय 2–126)
38. वही–896–समुदायाभिधानेऽपि जातिभेदाभिधा स्फुटा।
तपोजातिक्रियादीनां सामत्येनाभिधानतः।।
39. वही–887–असत्यो वाऽपि संसर्गः शब्दार्थः कैश्चिदुच्चते। (वाक्यपदीय–2–127)
40. वही–888–असत्योपाधि यत् सत्यं तद्वा शब्दनिबन्धनम्। (वाक्यपदीय–2–127)
41. द्रष्टव्य–तत्त्वसंग्रह और पंजिका–897
42. तत्त्वसंग्रह–888–शब्दोवाऽप्यभिजल्पत्वमागतो याति वाच्यात्। (वाक्यपदीय–2–227)

43. वही–899–जल्पो बुद्धिस्थ एवायं बाह्ययोग विभेदतः।।
ततः को भेद एतस्य बुद्धिपक्षादनन्तरात्।।

44. वही–890–यो वाऽर्थो बुद्धिविषयो बाह्यवस्तु निबन्धनः।
स बाह्यं वस्त्विविज्ञातः शब्दार्थः कैश्चिदिष्यते।। (वाक्यपदीय–2–132)

45. तत्त्व संग्रह पंजिका–पृ. 287–बुद्धिरूपतया गृहीतोऽसौ न शब्दार्थ।

46. प्रमाणवार्त्तिक–3/71–सर्वे मिथ्यावभासोऽयमर्थेष्वेसात्मनाग्रहः।
इतरेतर भेदोस्य बीजं संज्ञा यदर्थिका।।

47. तत्त्व संग्रह–891–अभ्यासात् प्रतिभाहेतुः सर्वः शब्दः समासतः।
बालानां च तिरश्चां च यथार्थप्रतिपादने।।

48. वही–901–904–

प्रतिभा च शब्दार्थो बाह्यार्थविषया यदि।
एकात्मनियते बाह्ये विचित्राः प्रतिभाः कथम्।।
अथ निर्विषया एता वासनामात्र मावतः।
प्रतिपत्तिः प्रवृत्तिर्वा बाह्यार्थेषु कथं भवेत्।।
बाह्य रूपाधिमोक्षेण स्वाकारे यदि ते मते।
शब्दार्थोऽतात्त्विकः प्राप्तस्था भ्रान्त्यसा प्रवर्त्तनात्।।
निर्बिजा न च सा युक्ता सर्वत्रैव प्रसंगतः।
इतरेतरभेदोऽस्य बीजं चेत् पक्ष एष नः।।

स्मृति के अप्रामाण्य की न्यायशास्त्रीय दृष्टि

सच्चिदानन्द मिश्र

न्याय–वैशेषिक परम्परा में ज्ञान का वर्गीकरण प्राथमिक रूप से अनुभव तथा स्मृति के रूप में किया जाता है। कुछ एक दर्शन सम्प्रदायों को छोड़कर प्रायशः भारतीय दर्शनों में ज्ञान के इसी प्रकार के वर्गीकरण को स्वीकार कर लिया जाता है। सामान्यतया अनुभव के द्वारा भी ऐसी ही स्थिति सामने आती है, जिससे इस प्रकार के वर्गीकरण को वस्तुगत रूप से एक उचित आधार पर प्राप्त होता है। ज्ञान का एक प्रकार वह है जिसमें सामान्यतया नवीनता का पुट होता है, तथा द्वितीय प्रकार का ज्ञान वह है जिसमें नवीनता का पुट बिलकुल ही नहीं होता, जो केवल संस्कार से उत्पन्न होता है। प्रथम प्रकार के ज्ञान को अनुभव शब्द के द्वारा तथा द्वितीय को स्मृति शब्द के द्वारा जाना जाता है। अनुभव का द्विविध विभाग है–यथार्थ तथा अयथार्थ। यथार्थ अनुभव के लिए ही प्रमा शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसके समानान्तर अयथार्थ अनुभव के लिए अप्रमा शब्द का प्रयोग प्रचलित है। न्याय दर्शन में यथार्थ अनुभव के चार प्रकार हैं– प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति तथा शाब्दबोध। परन्तु इसी प्रक्रिया से अयथार्थ अनुभव के चार प्रकार नहीं बताये जाते क्योंकि अयथार्थ अनुभव का वर्गीकरण एक भिन्न रीति से करना अधिक वैज्ञानिक है। इस कारण अयथार्थ अनुभव के तीन प्रकार बताये गये संशय, विपर्यय तथा तर्क। यह प्रमा व अप्रमा का विभाग बहुत ही सुस्पष्ट है।

यद्यपि यह स्वयं एक विवादास्पद प्रश्न हो सकता है कि अनुभव के प्रभेदों में अनुमिति, उपमिति तथा शाब्दबोध को रखना कहाँ तक संगत है। अनुभव पद के द्वारा तो केवल प्रत्यक्षात्मक ज्ञान को लेना या समझना अधिक युक्तिसंगत होगा। परन्तु हम इस विवाद में इस समय नहीं पड़ेंगे। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि न्यायपरम्परा में भी इस प्रश्न को रघुनाथ शिरोमणि ने उठाया है तथा बहुत ही उचित तरीके से यह व्यवस्थापित किया है कि इस शब्द का प्रयोग पारम्परिक रूप से प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति तथा शाब्दबोध के लिए किया अवश्य जाता है, परन्तु वस्तुतः इसका प्रयोग केवल

साक्षात्कारमात्र के लिए होना चाहिए था। पारम्परिक रूप से प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति तथा शाब्दबोध के लिए इस शब्द का प्रयोग होने का अप्रस्तुत रूप से कारण यह है कि वस्तुतः जितने भी ज्ञान होते हैं, उन समस्त ज्ञानों में किसी न किसी अंश में साक्षात्कारित्व होता ही है। इसी कारण अनेक बार कहा जाता है कि समस्त ज्ञान मानसप्रत्यक्षात्मक हैं। हालाँकि यह वक्तव्य स्वयं अनेक विरोधभासों को जन्म देता है। सबसे बड़ा विरोधाभास यह है कि यदि समस्त ज्ञान मानसप्रत्यक्षात्मक हैं तो अनुमिति रूप ज्ञान भी तो प्रत्यक्षात्मक ही हुआ। इस कारण एक ही ज्ञान में प्रत्यक्षत्व तथा अनुमितित्व का साकर्ड्य होगा। इस विरोधाभास का परिहार नैयायिक यह कहकर करते हैं कि यद्यपि समस्त ज्ञानों के प्रति मन कारण होता है, तथा इस कारण समस्त ज्ञान मानस होते हैं। तथापि 'जिस असाधारण सहकारी को प्राप्त कर मन बाह्यपदार्थविषयक प्रमा को उत्पन्न करता है, उसको प्रमाणान्तर माना जाता है'[1]। अनुमिति आदि के प्रति भी मन की कारणता है, परन्तु अनुमिति आदि के प्रति मन की कारणता मनस्त्वेन है—मन होने के कारण है—न कि इन्द्रिय होने के कारण। हालाँकि प्रश्न यह भी है कि फिर प्रत्यक्षादि प्रमाओं के विभाग का आधार क्या होगा ? अनुमति आदि ज्ञान भी तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से जन्य हो रहे हैं, तो इसका आधार नैयायिक यह बताते हैं कि वस्तुतः किसी ज्ञान के लिए कोई एक कारण नहीं होता। सामग्री के वैजात्य से कार्य का वैजात्य सम्भव होगा। प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के लिए जिस प्रकार की कारणसामग्री की अपेक्षा होती है, अनुमिति आदि ज्ञानों के लिए उससे अतिरिक्त किस्म की कारणसामग्री की अपेक्षा होती है। इस कारण ज्ञानों का भेद भी समुचित रूप से व्यवस्थापित किया जा सकता है। विभिन्न कारणसामग्रियों के आधार पर विभिन्न प्रजाति की प्रमाओं की व्यवस्था सम्भव है।

इस सारे विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि स्मृति न तो प्रमा में तथा न तो अप्रमा में अन्तर्भूत हो रही है क्योंकि प्रमा तथा अप्रमा ये दोनों ही वर्गीकरण ज्ञान के नहीं हैं, अनुभव के हैं तथा स्मृति अनुभव ही नहीं है। इस कारण न तो उसके प्रमात्व का प्रश्न है और न तो उसके अप्रमात्व का। इस कारण न्यायवैशेषिकपरम्परा में स्मृति को न तो प्रमा माना जाता है और न तो अप्रमा।

प्रमाणों को भी न्यायवैशेषिकपरम्रा में चार प्रकार का माना गया है प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द क्योंकि प्रमा का करण ही प्रमाण कहलाता है। स्मृति को, जिस प्रकार प्रमा तथा अप्रमा इन दोनों विभागों से

बर्हिर्भूत माना गया, ठीक उसी प्रकार से स्मृति को प्रमाण भी नहीं माना जाता। प्रामाण्य शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है प्रमात्व तथा प्रमाकरणत्व। हम पाते हैं कि न्यायवैशेषिकपरम्परा में दोनों ही प्रकार का प्रामाण्य स्मृति पर लागू नहीं होता है।

पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा में 'नॉलेज' और 'बिलीफ' का विभाग बहुत प्रसिद्ध है। भारतीय परम्परा में तथा विशेषकर न्यायवैशेषिकपरम्परा में ज्ञानों का विभाग अनुभव तथा स्मृति के रूप में किया गया है, जिसको अभी हमने स्पष्ट किया। परन्तु पश्चिमी दर्शनपरम्परा में 'नॉलेज' और 'बिलीफ' के रूप में ज्ञानों का विभाग प्राप्त होता है। इस वर्गीकरण में पूरा तो नहीं, परन्तु प्रमा का काफी सीमा तक पर्यायवाची शब्द 'नॉलेज' है। स्मृति को पश्चिमी दर्शन में 'नॉलेज' का एक प्रकार माना गया है, 'बिलीफ' का सामान्य रूप से जो अर्थ है उसके अनुसार स्मृति 'बिलीफ' में अन्तर्भूत नहीं होती। वस्तुतः साक्ष्यों के समस्त संकलन, समस्त अवधारणाएँ, समस्त प्रमाण स्मृति पर आधारित होते हैं। यहाँ तक कि न्यायवैशेषिकपरम्परा में भी समस्त प्रमाणों के आधार के रूप में स्वीकृत सर्वप्रमाणज्येष्ठ प्रत्यक्षप्रमाण का अनुभवगम्य प्रभेद अर्थात् सविकल्पक प्रत्यक्ष भी स्मृति पर आधारित होता है। इस कारण स्वाभाविक रूप से प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि पश्चिमी परम्परा स्मृति को 'नॉलेज' के अन्तर्गत परिगणित करती है, तो किस कारण न्यायवैशेषिकपरम्परा का स्मृति को प्रमा से बहिर्भूत रखने का आग्रह है ? पश्चिमी दर्शन के परिप्रेक्ष्य में इसके अतिरिक्त एक अन्य बिन्दु को भी ध्यान में रखना आवश्यक प्रतीत होता है, पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा में स्मृति प्रमाण के रूप में स्वीकार की गयी है। इसके विपरीत न्यायवैशेषिकपरम्परा स्मृति को जिस प्रकार प्रमा नहीं मानती, उसी प्रकार प्रमाण भी नहीं मानती। नव्यन्याय शब्द से जिस तार्किक परम्परा को जाना जाता है, वह काफी हद तक वैशेषिकपरम्परा से प्रभावित है। तत्त्वमीमांसीय परिप्रेक्ष्य में तो नव्यन्याय ने वैशेषिक पदार्थव्यवस्था को ही समुचित रूप से स्वीकार किया है। वैशेषिक दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थ तथा अनेक आकार स्थलों पर विद्या के प्रभेदों में स्मृति का भी उल्लेख प्राप्त होता है[2]। विद्या शब्द पश्चिमी दर्शन में 'नॉलेज' शब्द का अधिक नजदीकी पर्याय प्रतीत होता है। इस प्रसंग में यह भी देखनेवाली बात है कि क्या विद्या का तात्पर्य प्रमा से है ? क्योंकि परवर्ती न्यायवैशेषिकपरम्परा में स्मृति को प्रमा मानने की बात कहीं पर प्राप्त नहीं होती। यह अवश्य है कि गङ्गेशोपाध्याय के पूर्वकालीन तथा न्यायलीलावती के लेखक वल्लभाचार्य स्मृति को प्रमाणों

के अन्तर्गत परिगणित करते प्रतीत होते हैं[3]। मैं अपने इस आलेख में यह देखने का प्रयास करूँगा कि इस विषय में न्यायवैशेषिकपरम्परा की जो अवधारणा है वह कितनी युक्तिसंगत है, तथा उसको तार्किक रूप से कितना बल मिलता है।

स्मृति क्या है ? स्मृति का विषय क्या है ? इन प्रश्नों पर विचार किये बिना स्मृति के प्रामाण्य पर चर्चा करना नितान्त असंगत होगा क्योंकि किसी भी ज्ञान का प्रामाण्य उस ज्ञान के विषय पर निर्भर करता है। स्मृति पर विचार करने के क्रम में कल्पना पर विचार करना भी आवश्यक है क्योंकि बहुधा कल्पना तथा स्मृति को एक मानने की गलती हमसे हो जाती है। नैयायिक बताते हैं कि स्मृति एक ऐसा ज्ञान है जिसकी उत्पत्ति केवल संस्कार से होती है। संस्कारमात्रजन्य ज्ञान को स्मृति कहा जाता है[4]। तथा स्मृति का विषय पूर्वानुभूत विषय ही होता है। इसके विपरीत कल्पना मनःप्रसूत मानस ज्ञान है। कल्पना को प्रमात्मक कोई भी दार्शनिक तंत्र नहीं मानता है, हालाँकि उसको प्रमात्मक मानने का प्रश्न हो सकता था क्योंकि वह मानस ज्ञान है। कल्पना को प्रमात्मक न मानने का आधार यह है कि कल्पना कभी भी यथार्थ नहीं होती जबकि प्रमात्व का आधार यथार्थता है। चूँकि कल्पना यथार्थ नहीं होती, इस कारण उसको प्रमात्मक नहीं माना जा सकता। न्यायवैशेषिकपरम्परा में कल्पना के विषय में कुछ अधिक विवेचन नहीं उपलब्ध होता। यहाँ तक कि कल्पना की चर्चा भी ज्ञान के प्रभेदों में नहीं प्राप्त होती। कल्पना चूँकि इच्छाजन्य होती है, इस कारण उसको आहार्य ज्ञान के अन्तर्गत रखा जा सकता है। आहार्य ज्ञान की चर्चा विस्तार से विविध स्थलों में प्रसंगानुसार प्राप्त होती है। बाधकालीन इच्छा से जन्य ज्ञान को आहार्य ज्ञान कहा जाता है[5]। ज्ञानों के वर्गीकरण में यद्यपि इस आहार्य ज्ञान की चर्चा नहीं प्राप्त होती है। परन्तु तर्क को अप्रमा के प्रभेदों में अन्तर्भूत किया गया है, तथा तर्क भी एक खास प्रकार का इच्छाजन्य आहार्य ज्ञान ही होता है। इस कारण न्यायवैशेषिकपरम्परा की ज्ञानमीमांसा में कल्पना के लिए भी स्थान बन जाता है। बौद्धों ने कल्पना का अभिप्राय कुछ अन्य प्रकार से बताया है। ऐसी प्रतिभासप्रतीति को कल्पना कहते हैं जो अभिलापसंसर्ग के योग्य हो, जिसका कि अभिलाप किया जा सकता हो[6]। बौद्धदर्शन में वर्णित यह कल्पना की अवधारणा पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा में डेविड ह्यूम द्वारा प्रतिपादित कल्पना (इमेजिनेशन) की अवधारणा के काफी समीप है। ह्यूम के अनुसार स्मृति तथा कल्पना दोनों का विषय प्रतिमा हुआ

करती है, परन्तु कल्पना की प्रतिमा स्मृति की प्रतिमा की अपेक्षा कम जीवन्त होती है। यह कम या अधिक जीवन्तता की बात ह्यूम करता अवश्य है, परन्तु उस पर उसको स्वयं ही भरोसा नहीं है। जीवन्तता व्यक्तिभेद से भिन्न हो सकती है, हर एक के लिए स्मृति की प्रतिमा कल्पना की प्रतिमा की अपेक्षा अधिक ही जीवन्त हो, यह आवश्यक तो नहीं। इसी कारण आलोचकों ने ह्यूम के इस प्रतिमासिद्धान्त की तीखी आलोचना भी की है। प्रायशः उसी प्रतिमा को बौद्ध दार्शनिक प्रतिभासप्रतीति कहते हैं। बौद्धों द्वारा सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमाण न मानने का आधार भी यही है। चूँकि सविकल्पक प्रत्यक्ष में कल्पना का अनुप्रवेश है, इस कारण वह प्रमाण नहीं हो सकता। पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा के अनुसार भी कल्पना (इमेजिनेशन) को प्रमा या प्रमाण नहीं माना गया है क्योंकि कल्पना को प्रमात्मक होने के लिए उसका विषय कोई तथ्य या कोई सत्य प्रतिज्ञप्ति होनी चाहिए थी, जो कि नहीं होती। इस कारण कल्पना को प्रमा नहीं माना जा सकता। न्यायदर्शन अपने वस्तुवाद के आलोक में स्मृति का विषय क्या है ? इस प्रश्न का सीधा–सीधा उत्तर देता है कि स्मृति का विषय अतीत वस्तु है तथा स्मृति संस्कारमात्र से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है।

पाश्चात्य दर्शन में स्मृति का विषय अतीत वस्तु है, इस समाधान को नितान्त अविचारणीय माना गया है। उनके अनुसार अतीत वस्तु स्मृति की विषय नहीं हो सकती है। परन्तु चाक्षुष अनुभव के द्वारा प्रसूत स्मृति के उदाहरणों को छोड़ दिया जाये तो श्रोत्रज प्रत्यक्ष से जन्य या रासन प्रत्यक्ष से जन्य स्मृतियों का विषय प्रतिमा आदि नहीं ही हो सकती है। इसी कारण ए.जे. एयर निश्चित रूप से निर्धारित करते हुए कहते हैं कि "शायद सही उत्तर यही है कि स्मृति के हर एक उदाहरण में कोई एक ऐसा विषय नहीं है जो विद्यमान रहता हो"[7]। इस कारण स्मृति का विषय अतीत वस्तु नहीं है, इस मूल अभ्युपगम की सत्यता को स्वीकार करना असंगत सा ही दिखता है।

स्मृति को प्रमा क्यों नहीं माना जाये ? इस प्रश्न पर विचार करने के पूर्व प्रमा की अवधारणा पर भी तनिक विचार आवश्यक दिखता है क्योंकि भारतीय विभिन्न दर्शनसम्प्रदायों में प्रमा की आवधारणा भी एक समान नहीं है। मीमांसक तथा वेदान्ती तथा बौद्ध प्रमा की अवधारणा में अगृहीतग्रहाहित्व की बात भी अन्तर्भूत करते हैं। उनके अनुसार किसी ज्ञान को प्रमा होने के लिए उस ज्ञान का अगृहीतग्राही होना आवश्यक है–किसी ऐसी वस्तु या तथ्य को विषय बनाना आवश्यक है, जो पूर्व में ज्ञात न रही हो। यदि स्मृति

का विषय अतीतवस्तु ही होती है, तो निश्चय ही वह अतीतवस्तु पूर्व में उत्पन्न अनुभव के द्वारा विषय बना ली गयी है। इस कारण स्मृति का विषय कोई ऐसी वस्तु या कोई ऐसा तथ्य नहीं हो सकेगा जो पूर्व में ज्ञात न रहा हो। इस कारण मीमांसकों तथा वेदान्तियों के पक्ष में स्मृति को प्रमा मानने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। इसके विपरीत नैयायिक प्रमा की परिभाषा यथार्थ अनुभव कह कर देते हैं, उस यथार्थता में कहीं पर भी अगृहीतग्राही होना आवश्यक या अनिवार्य नहीं है। नैयायिक न केवल वस्तुवादी हैं, अपितु वस्तुस्थिरवादी भी हैं। घटादि वस्तुएँ स्थिर हैं, क्षण–क्षण परिवर्तनशील नहीं। धारावाहिक ज्ञान के स्थल में–जहाँ पर एक ही आकार के ज्ञान लगातार उत्पन्न हो रहे हैं जैसे 'यह घट है' इस प्रकार के विभिन्न समानाकारक ज्ञान धारावाहिक रूप से उत्पन्न हो रहे हैं, वहाँ पर ज्ञान–के प्रमात्व के लिए अगृहीतग्राही होने को आवश्यक शर्त मानने की स्थिति में केवल प्राथमिक 'यह घट है' ऐसा ज्ञान ही प्रमा माना जा सकेगा, द्वितीयादि 'यह घट है' ऐसे ज्ञान प्रमात्मक नहीं माने जा सकेंगे। नैयायिक कहते हैं कि प्रमा के लिए अगृहीतग्राही होने की शर्त एकदम अनावश्यक है। किसी भी प्रकार से यह आग्रह उचित नहीं जान पड़ता कि समानाकारक तथा समानविषयक प्रथम ज्ञान तो प्रमा है, तथा द्वितीयादि ज्ञान अप्रमा। किसी ज्ञान का विषय पूर्व में गृहीत हो या न हो, इससे उस ज्ञान के प्रमात्व पर कोई फर्क नहीं पड़ना चाहिए[8]। एक बार जिस विषय का ज्ञान उत्पन्न हो गया है, उसका ज्ञान दुबारा प्रमा रूप से उत्पन्न ही नहीं होगा, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रथम ज्ञान के उत्पादक जो कारण थे वे तो द्वितीय ज्ञान के काल में भी हैं ही। इस कारण यह मानना सम्भव नहीं है कि जिस विषय का ज्ञान उत्पन्न हो गया है, उसका ज्ञान दुबारा उत्पन्न ही नहीं होगा। एक बार ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर कारणों के सामर्थ्य का प्रतिबन्ध नहीं होता[9]। यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रमाता को किसी विषय में एक ज्ञान उत्पन्न हो जाने के उपरान्त तद्विषयक द्वितीयादि ज्ञानों की कोई आवश्यकता नहीं रहती, इस कारण हम गृहीतग्राही ज्ञान को प्रमा नहीं मानते। परन्तु समस्या यह है कि किसी ज्ञान का प्रमात्व प्रमाता के द्वारा उस ज्ञान के आवश्यक होने या न होने पर निर्भर नहीं करता[10]। ज्ञान का प्रमात्व प्रमाता की अपेक्षा या अनपेक्षा से स्वतन्त्र है। इसलिए प्रमाता को किसी ज्ञान की अपेक्षा न रहने पर भी उस ज्ञान के प्रमात्व को स्वीकार करना आवश्यक है। अनेक बार हम नहीं चाहते कि अपने किसी परिजन के बारे में कुछ अशुभ जानें, इस प्रकार

के अशुभ ज्ञान की हमको कभी अपेक्षा नहीं होती, परन्तु ऐसा ज्ञान भी उस ज्ञान की कारणसामग्री के द्वारा उत्पन्न अवश्य होता है। द्वितीय अनुभव प्रथम अनुभव की अपेक्षा से नहीं उत्पन्न होता। धारावाहिक अनुभव के स्थल में परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा न करते हुए ये समानाकारक तथा समानविषयक अनुभव उत्पन्न होते हैं। इस कारण यदि प्राथमिक अनुभव प्रमा है, तो द्वितीयादि अनुभवों का भी प्रामाण्य स्वीकार करना ही उचित है। सिर्फ अगृहीतग्राही ज्ञान मात्र को ही प्रमा माना जाये, यह स्वयं में विवादास्पद है। इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि स्मृति चूँकि गृहीतग्राही होती है तथा प्रमा हमेशा अगृहीतग्राही होती है, अतएव स्मृति को प्रमा नहीं माना जा सकता।

फिर स्मृति को प्रमा न मानने का आधार क्या है ? न्यायमञ्जरी के लेखक जयन्त भट्ट एक विवादास्पद समाधान देते हैं, जिसको कि परवर्ती नैयायिक ही मान्यता नहीं प्रदान करते। जयन्त भट्ट कहते हैं कि स्मृति का अप्रमात्व उसके गृहीतग्राही होने के कारण नहीं अपितु उसके अर्थोत्पन्न न होने के कारण है[11]। स्मृति अपने विषय से उत्पन्न नहीं होती क्योंकि स्मृति का विषय अतीतकालीन होता है, उस अतीतकालीन विषय से वर्तमान काल में स्मृति किसी भी प्रकार उत्पन्न नहीं हो सकती। इस प्रकार हम पाते हैं कि जयन्त भट्ट के अनुसार प्रमा होने की शर्त केवल यथार्थानुभव होना ही नहीं है, अपितु उस ज्ञान का अर्थोत्पन्न होना भी है। यह एक नवीन बात जयन्त भट्ट कह रहे हैं जिसका सन्दर्भ किसी अन्य ग्रन्थकार ने उपलब्ध नहीं कराया है। परन्तु क्या समस्त प्रमाओं पर अनिवार्य रूप से अर्थोत्पन्नता की शर्त लागू हो सकती है ? क्या समस्त प्रमात्मक ज्ञान नियमतः अर्थोत्पन्न होते हैं। जयन्त भट्ट बहस करते हैं कि अनुमिति में भी अर्थोत्पन्नत्व है क्योंकि हम केवल धर्म का अनुमान करते हैं धर्मी का नहीं। धर्मी तो प्रत्यक्षसिद्ध वर्तमान है ही। चूँकि धर्मीरूप अर्थ से अनुमिति भी उत्पन्न हो रही है, इस कारण अनुमिति में भी अर्थजन्यत्व है। इसलिए उसका प्रामाण्य उत्पन्न है[12]। प्रातिभ ज्ञान के विषय की भी वर्तमानता के कारण प्रातिभ ज्ञान में भी अर्थजन्यत्व का उपपादन जयन्त भट्ट करते हैं। परन्तु जयन्त भट्ट के इस सिद्धान्त से सहमत होना उचित नहीं दिखता क्योंकि अनेक प्रमा के उदाहरण ऐसे हैं जहाँ पर ज्ञान के अर्थोत्पन्नत्व का व्यवस्थापन नहीं किया जा सकता। उदाहरण के रूप में अदृष्ट अर्थ को विषय करने वाली शाब्दी प्रमा के अर्थोत्पन्नत्व का व्यवस्थापन किसी भी प्रकार से नहीं किया जा सकता।

द्वितीयतः इस पक्ष में ईश्वरीय ज्ञान के प्रमात्व का स्वीकार सम्भव नहीं होगा क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान नित्य होने के कारण अर्थोत्पन्न नहीं हो सकता। इस कारण स्मृति के प्रमात्व का निराकरण जयन्त भट्ट के इस सिद्धान्त के आधार पर नहीं किया जा सकता। इसी कारण जयन्त भट्ट के मत की आलोचना करते हुए प्रशस्तपादभाष्य की न्यायकन्दली व्याख्या के लेखक श्रीधर भट्ट कहते हैं कि जो लोग स्मृति के अर्थोत्पन्न न होने के कारण स्मृति का अप्रामाण्य मानते हैं, उनके मत में अतीत तथा अनागत विषयक अनुमानों का प्रामाण्य नहीं हो सकेगा[13]।

न्यायकन्दलीकार श्रीधरभट्ट इस बारे में पक्ष रखते हैं कि स्मृति का विषय अतीत होता है। इसी कारण स्मृति प्रमाण नहीं होती। स्मृति उसी विषय को अपना विषय बनाती है, जो कि पूर्वोत्पन्न अनुभव का विषय हो चुका हो। जो विषय पूर्वोत्पन्न अनुभव का विषय नहीं होता, उस विषय को स्मृति विषय नहीं कर सकती। इस कारण स्मृति अर्थ का परिच्छेदन करने में स्वतन्त्र नहीं है[14]। स्मृति अपने विषयीभूत अर्थ का परिच्छेदन करने में स्वतन्त्र नहीं है, इस कथन का तात्पर्य यह है कि यदि पूर्वोत्पन्न अनुभव प्रमात्मक हुआ है, तो स्मृति भी उसी प्रकार की यथार्थ होती है। यह सम्भव नहीं है कि हमें पूर्व में ज्ञान तो अप्रमात्मक हुआ हो, अयथार्थ हुआ हो, परन्तु परकालीन स्मृति यथार्थ हो जाये। इसका तात्पर्य यह है कि स्मृति में जो यथार्थता आ रही है, वह यथार्थता उस स्मृति की अपनी यथार्थता नहीं है अपितु वह यथार्थता उधार की है, पूर्वकालीन अनुभव की यथार्थता है। चूँकि यह किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है कि पूर्वज्ञान का प्रामाण्य माने बिना स्मृति का प्रामाण्य स्वीकार कर लिया जाये, इसलिए उचित यही लगता है कि पूर्वकालीन अनुभव का प्रामाण्य तो अनिवार्यता स्वीकार्य होने के कारण मानी जाये, परन्तु स्मृति का प्रामाण्य न माना जाये। पूर्वकालीन अनुभव का उपस्थापन कर देने मात्र से ही स्मृति की चरितार्थता हो जायेगी[15]। प्रकरणपंचिका के लेखक शालिकनाथ भी स्मृति के अप्रमात्व का आधार इसी में देखते हैं कि स्मृति पूर्वकालीन अनुभव की अपेक्षा करती है परन्तु धारावाहिक बुद्धियाँ पूर्वकालीन अनुभव की अपेक्षा नहीं करती हैं[16]। इस कारण धारावाहिक ज्ञानों में समस्त ज्ञानों का प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है, परन्तु स्मृति का प्रामाण्य नहीं स्वीकार किया जाता। श्रीधरभट्ट के प्रायशः समकालीन उदयनाचार्य भी समान युक्ति के आधार पर स्मृति का प्रामाण्य नहीं स्वीकार करते। उनका कथन यह भी है कि स्मृति के प्रमात्व

का व्यवहार नहीं होता। यदि कथंचित् स्मृति के प्रमात्व का व्यवहार होता भी हो, तो उस व्यवहार के प्रति भी पूर्वकालीन अनुभव को ही प्रमा समझना चाहिए क्योंकि पूर्वकालीन अनुभव किसी की अपेक्षा नहीं करता, स्मृति तो अपने प्रामाण्य के लिए नियम से पूर्वकालीन अनुभव की अपेक्षा करती है[17]।

उदयनाचार्यजी प्रश्न को यहीं पर नहीं छोड़ते। वे अगला प्रश्न करते हैं कि यदि स्मृति अपने प्रामाण्य के लिए नियम से पूर्वकालीन अनुभव की अपेक्षा करती है, तो समान रूप से अनुमिति भी अपने प्रामाण्य के लिए नियम से पूर्वकालीन व्याप्तिविषयक अनुभव की अपेक्षा करती है। यदि पूर्व में व्याप्ति का अनुभव प्रमात्मक हुआ है, तो अनुमिति प्रमात्मक होती है। यदि अप्रमात्मक व्याप्ति का अनुभव हुआ है, तो अनुमिति भी अप्रमात्मक ही होती है। इस कारण स्मृति के समान अनुमिति भी नियम से पूर्वकालीन अनुभव की अपेक्षा करने के कारण प्रमात्मक नहीं हो सकेगी ? तो इसका समाधान देते हैं कि अनुमिति अपने प्रामाण्य के लिए जिस पूर्वकालीन अनुभव की अपेक्षा करती है, उस अनुभव का विषय अनुमिति के विषय से भिन्न है[18]। अनुमिति का विषय साध्य अग्नि आदि है, उस अनुमिति के लिए अपेक्षित पूर्वकालीन अनुभव का विषय व्याप्ति है। परन्तु स्मृति अपने प्रामाण्य के लिए स्वसमानविषयक पूर्वकालीन अनुभव की अपेक्षा करती है। इस कारण स्मृति अर्थपरिच्छेदन करने में भी पराश्रित है, अनुमिति उत्पत्ति में तो पराश्रित है किन्तु अर्थपरिच्छेदन करने में पराश्रित नहीं है। इस कारण अनुमिति के प्रमात्व पर प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। परन्तु जो आपत्ति स्मृति के प्रामाण्य के विषय में दी गयी, ठीक वही आपत्ति शब्द प्रमाण के प्रामाण्य के विषय में भी उठायी जा सकती है। यह कहा जा सकता है कि जो विषय किसी अन्य प्रमाण से जाना हुआ रहता है, उसी विषय को शब्द प्रमाण भी विषय करता है। किसी अर्थ को प्रमाणान्तर से जाने बिना हम शब्द के द्वारा उस अर्थ का अभिलाप नहीं कर सकते। इस कारण जो अर्थ प्रमाणान्तर का विषय होता है, वही शब्द प्रमाण का विषय होता है तथा शब्द प्रमाण स्वयं अर्थ का परिच्छेदन करने के लिए प्रमाणान्तर से अर्थपरिच्छेदन की अपेक्षा करता है। इस कारण जिस प्रकार से स्मृति का प्रामाण्य नहीं होता, समान रूप से शब्द प्रमाण का प्रामाण्य भी नहीं स्वीकृत हो सकेगा। तो ऐसा नहीं है, उदयन समाधान देते हैं कि शब्द प्रमाण पर स्मृति पर आरोपित आपत्ति लागू नहीं होती क्योंकि प्रमाता के भेद से शब्द प्रमाण को अर्थपरिच्छेदन के लिए प्रमाणान्तर के द्वारा अर्थपरिच्छेदन की अपेक्षा नहीं होती[19]।

स्मृति को यदि प्रमा न माना जाये तो एक गम्भीर प्रश्न अवश्य उठता है–पूर्व में अनुभव हुआ था, उस अनुभव से स्मृति उत्पन्न होती है, परन्तु यदि स्मृति प्रमा नहीं है तो पूर्वकालीन अनुभव में प्रमाण क्या है ? पूर्वकालीन अनुभव को तो हर कोई स्वीकार करता है, उसको निष्प्रमाणक नहीं होना चाहिए। स्मृति को यदि प्रमा न मानें तो पूर्वकालीन अनुभव में प्रमाण क्या है ? यदि कहा जाये कि स्मृति का अन्यथा अनुपपन्न होना ही पूर्वकालीन अनुभव की सत्ता में प्रमाण है, तो यह कथन युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि स्मृति का अन्यथा अनुपपन्न होने के आधार पर केवल स्मृति के कारण की सत्ता सिद्ध हो सकती है, यह नहीं सिद्ध हो सकता कि वह स्मृति का कारण अनुभव था[20]। स्मृति का कारण कोई ज्ञान अवश्य उत्पन्न हुआ था इतना ही पता चलता है। यह पूछा जा सकता है कि यदि स्मृति का अन्यथा अनुपन्न होना अनुभव को प्रमाणित नहीं करता, तो जिस वस्तु का अनुभव नहीं हुआ है, उसका भी स्मरण होना चाहिए था। क्यों नहीं होता ? जब स्मृति होने के लिए अनुभव के होने में कोई प्रमाण नहीं है, तो ऐसा हो ही सकता है[21]। यदि किसी विषय का ज्ञान पूर्व में हुआ है, तो अनुभव के बिना भी स्मृति हो ही सकती है, पूर्व में अनुभव होना आवश्यक नहीं है, ज्ञान होना आवश्यक है। वस्तुतः तो पूर्वकालीन अनुभव में प्रमाण के रूप में आत्मा की प्रत्यभिज्ञा ही है। जैसे पूर्व तथा पर अवस्था की सिद्धि आत्मा की प्रत्यभिज्ञा के द्वारा होती है, उसी प्रकार मैंने जिस घट को देखा था उसी घट का मैं स्मरण कर रहा हूँ, इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा के द्वारा ही पूर्वकालीन अनुभव की सिद्धि होती है। इस कारण स्मृति का प्रामाण्य स्वीकार किये बिना भी पूर्वकालीन अनुभव में प्रमाण का प्रस्तुतीकरण सम्भव है[22]। इस प्रकार पूर्वकालीन अनुभव की सिद्धि के लिए स्मृति को प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है। पूर्वकालीन अनुभव की सिद्धि मानसप्रत्यक्षरूप प्रत्यभिज्ञा के द्वारा ही सम्भव है।

यद्यपि यहाँ एक अन्य प्रश्न उपस्थित होगा कि प्रत्यभिज्ञा तथा स्मृति में क्या तात्त्विक अन्तर है जिसके कारण नैयायिक प्रत्यभिज्ञा का प्रामाण्य मानते हैं, परन्तु स्मृति का प्रामाण्य नहीं मानते ? प्रत्यभिज्ञा की भी प्रक्रिया तो एक जैसी ही है, प्रत्यभिज्ञा में भी स्मृति की भूमिका होती है, फिर ऐसा भेद क्यों ? यह प्रश्न अपने आप में जटिल है, इस कारण इस प्रश्न को यहीं पर छोड़ते हैं। अभी मात्र यह कथन पर्याप्त है कि नैयायिकों के अनुसार प्रत्यभिज्ञा कोई ज्ञान का अतिरिक्त प्रभेद नहीं है, बल्कि वह प्रत्यक्षात्मक ही है। इसी कारण प्रत्यभिज्ञा का प्रामाण्य हम मानते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष का प्रामाण्य तो स्वीकार्य ही है।

गङ्गेशोपाध्याय भी उदयनाचार्य से सहमति रखते हुए स्मृति के अप्रामाण्य का कारण स्मृति का पूर्वानुभवसापेक्ष होना ही मानते हैं। चूँकि अनुभव पूर्वानुभवसापेक्ष नहीं होता और स्मृति नियम से पूर्वानुभवसापेक्ष होती है। इस कारण अनुभव को प्रमा तथा स्मृति को अप्रमा माना जाता है[23]।

न्यायलीलावती के लेखक वल्लभाचार्य स्मृति को प्रमाणान्तर मानते प्रतीत होते हैं तथा उन्होंने स्मृति को प्रमाणान्तर मानने के लिए अनेक तर्क भी प्रस्तुत किये हैं। प्रथमतया वे कहते हैं कि चूँकि स्मृति भी अर्थनिश्चय के प्रति कारण होती है, इस कारण स्मृति को भी प्रमाण मानना चाहिए[24]। ध्येय है कि समस्त दार्शनिकों ने स्मृति को अर्थनिश्चायकत्व माना ही है। अनुभवपरतन्त्रता स्मृति में होती है, इस कारण स्मृति को प्रमा नहीं माना जाना चाहिए, तो इस पर वल्लभाचार्य पूछते हैं कि उत्पत्ति में स्मृति प्रमाणान्तरपरतन्त्र है या स्वविषय का परिच्छेदन करने में? उत्पत्ति में यदि स्मृति प्रमाणान्तरपरतन्त्र है, तो इसमें कोई दोष नहीं क्योंकि उत्पत्ति में तो अन्य प्रमाण भी प्रमाणान्तरपरतन्त्र होते हैं। जैसे अनुमिति तथा शाब्दबोध भी उत्पन्न होने के लिए अन्य प्रमाण पर निर्भर करते हैं, इस कारण केवल स्मृति को प्रमा न मानने का आधार नहीं बनता। यदि ज्ञप्ति में प्रमाणान्तरपरतन्त्र होने की बात की जाये, तो ज्ञप्ति में स्मृति प्रमाणान्तरपरतन्त्र नहीं है क्योंकि किसी भी ज्ञान के द्वारा कोई फल नहीं उत्पादित किया जाता। मीमांसकों के समान यदि आप ज्ञान के द्वारा ज्ञानविषय में कोई फल उत्पन्न होने की बात स्वीकार करते[25], तो यह कहा जा सकता था कि चूँकि स्मृति अतीतविषयक होती है और अतीत विषय में कोई फल ज्ञान के द्वारा उत्पादित नहीं किया जा सकता। इस कारण स्मृति को प्रमाण नहीं मानेंगे। परन्तु नैयायिक तो ऐसा मानते ही नहीं[26]।

उदयनाचार्य ने जो अर्थपरिच्छेदन में स्मृति की परतन्त्रता की बात की थी उसकी भी वल्लभाचार्य आलोचना करते हैं कि यदि स्मृति अपने विषय का परिच्छेदन करने में अन्य की अपेक्षा करेगी, तो वह स्मृति ज्ञान ही नहीं हो पायेगी क्योंकि इच्छा ही अपने विषय का परिच्छेदन करने में अन्य पर निर्भर करती है, ज्ञान नहीं[27]। उदयनाचार्य ने अन्य जो प्रश्न उठाये थे, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण यह था कि स्मृति का पूरा का पूरा विषय पूर्वकालीन अनुभव के द्वारा विषय किया जाता है, किसी भी अन्य प्रमाण के साथ ऐसा नहीं है कि उसका पूरा का पूरा विषय किसी के द्वारा विषय किया जाता हो। इसी कारण स्मृति की यथार्थता भी वस्तुतः याचित है,

उसकी अपनी नहीं है। फिर किस कारण स्मृति को प्रमा मानें ? इस पर वल्लभाचार्य कहते हैं कि स्मृति भी पूर्वकालीन अनुभव से अधिक विषय का परिच्छेदन करती है। पूर्वकालीन अनुभव में तत्ता का भान नहीं हुआ था, परन्तु स्मृति में तत्ता का भान होता है। स्मृति में घट का भान जब होता है, तो 'वह घट' इस रूप में भान होता है। परन्तु जब उस घट का प्रत्यक्ष हुआ था, उस समय 'वह घट' इस रूप में घट का भान नहीं हुआ था, अपितु 'यह' इस रूप में उस घट का प्रत्यक्ष हुआ था। इससे पता चलता है कि स्मृति में भी कोई बात ऐसी है, कोई विषय ऐसा है, जो कि पूर्वानुभव का विषय नहीं है। यह कहना तो सम्भव नहीं है कि पूर्वानुभव भी तत्ता को विषय करता है, क्योंकि ऐसी स्थिति में तो पूर्वानुभव में तत्ता का भान होना चाहिए था, जो कि नहीं होता। इससे यह स्पष्ट है कि तत्ता अंश के भान के लिए स्मृति पूर्वानुभवपरतन्त्र नहीं है, पूर्वानुभवापेक्ष नहीं है। इस कारण उसको प्रमाण मानना चाहिए[28]। तत्ता ज्ञातता ही है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'यह ज्ञात है' तथा 'यह वह है' इन दोनों ही अनुभवों में पर्याप्त अन्तर है। तत्ता यदि ज्ञाततास्वरूप होती तो इन दोनों अनुभवों में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए था[29]। इस प्रकार वल्लभाचार्य स्मृति के विषय में एक नवीनता का अन्वेषण भी कर लेते हैं। उदयनाचार्य आदि के द्वारा यह जो प्रश्न उठाया गया था कि 'प्रामाणिकों का स्मृति में प्रमात्व का व्यवहार नहीं होता, इस कारण स्मृति प्रमा नहीं है', उसके उत्तर में वे कहते हैं कि सत्य ज्ञान में ही लौकिकों तथा प्रामाणिकों का प्रमाव्यवहार होता है, न कि सत्य अनुभव के बारे में। इस कारण यह कहना नितान्त अनुचित है कि प्रामाणिकों का प्रमाव्यवहार स्मृति में नहीं होता[30]।

इस प्रकार स्मृति के प्रमात्व का प्रायशः व्यवस्थापन करने के उपरान्त वल्लभाचार्य परम्परा की दृष्टि से परम्परा के अन्दर से ही एक गम्भीर प्रश्न उपस्थापित करते हैं कि यदि सत्यज्ञान में ही प्रमात्वव्यवहार होता है तो दो ही प्रमाणों का स्वीकार क्यों है ? ध्येय है कि वैशेषिक परम्परा में दो ही प्रमाणों की स्वीकृति है– प्रत्यक्ष तथा अनुमान। यदि स्मृति भी प्रमा है तो निश्चय ही दो ही प्रमाण नहीं होंगे, दो से अधिक प्रमाण हो जायेंगे। समाधान प्रस्तुत करने के क्रम में वे कहते हैं कि सत्यज्ञानत्व या सत्यानुभवत्व को प्रामाण्य मानकर प्रमाणों के द्वैविध्य की बात नहीं की गयी है क्योंकि सत्यज्ञानत्व को प्रामाण्य मानने पर स्मृति का भी प्रामाण्य आवश्यक होने के कारण प्रमाणों का द्वैविध्य नहीं होगा। यदि सत्यानुभवत्व को प्रामाण्य माना

जाये तो ईश्वरीय ज्ञान न तो प्रत्यक्ष है और न तो अनुमिति, इस कारण ईश्वरीयज्ञान का प्रामाण्य नहीं हो सकेगा[31]। इस कारण प्रमाण के प्रतिपादन के विषय में अभियुक्त (प्रामाणिक) अक्षपाद तथा कणाद प्रभृति आचार्यों के द्वारा स्मृति में प्रमाण व्यवहार न होने के कारण तथा चूँकि स्मृति पूर्वानुभव की अपेक्षा करते हुए ही विषय की प्रतीति कराती है, इसलिए स्मृति को प्रमा नहीं मानना उचित है[32]। तत्ता का अधिक भान होने की बात जो की थी उसके बारे में भी वे स्पष्ट करते हैं कि वस्तुतः तत्ता अतीतज्ञान का वैशिष्ट्य ही है अथवा अतीतसमय का वैशिष्ट्य है। वह अनुभव के उत्तरकाल में नियम से भासित होता ही है, इस कारण ऐसा नहीं समझना चाहिए कि अनुभव की अपेक्षा स्मृति में कोई नया विषय आ गया है[33]। तत् शब्द के द्वारा उल्लेख होने के कारण भी यह है कि किसी अन्य प्रकार से पूर्वानुभव के सम्पन्नत्व का अनुसन्धान करके स्मृति के काल में तत्ता के वाचक का उल्लेख करने वाला व्यवहार किया जाता है[34]। इस प्रकार स्मृतिविषयक अपने विवेचन को पूर्ण करते हुए वल्लभाचार्य निष्कर्ष के रूप में उस अन्तिम युक्ति का भी खण्डन सा कर देते हैं जिसके आधार पर स्मृति के प्रमात्व का व्यवस्थापन किया जा सकता था। बात यह ध्वनित हो रही है कि 'तत्ता का भान नवीन है, इस कारण स्मृति का प्रामाण्य होना चाहिए' ऐसा पक्ष रखा था। परन्तु तत्ता तो प्रकारान्तर से आ ही रही है, तो जिस प्रकार से आ रही है, उसे प्रमाण माना जा सकता है, स्मृति को प्रमा नहीं माना जा सकता। यह अवश्य है कि वल्लभाचार्य के स्मृतिविषयक विवेचन को पढ़ते हुए अनेक बार ऐसा आभास होता है, जैसे वे स्मृति के प्रमात्व को स्वीकृति प्रदान करना चाहते हैं।

इस प्रकार यह सारी का सारी चर्चा इस बिन्दु पर आकर रुक जा रही है कि स्मृति यथार्थ तो है, परन्तु नियमतः पूर्वानुभवापेक्ष होती है, इस कारण उसको प्रमा मानना उचित नहीं है। यहाँ गङ्गेशोपाध्याय इसमें एक नया पक्ष लाते हैं। वह यह कि जिस युक्ति के आधार पर वल्लभाचार्य ने स्मृति के प्रामाण्य को स्वीकृति देने का पक्ष रखा था, उसी के आधार पर वे कहते हैं कि 'तत्ता का भान नवीन है, इस कारण स्मृति का अप्रामाण्य होना चाहिए'। इदन्ता का भान अनुभव में हुआ था, उस अनुभव से उत्पन्न स्मृति में तत्ता के द्वारा धर्मान्तर ही भासित हो रहा है, इसी कारण 'यह घट' ऐसा स्मरण नहीं होता किन्तु 'वह घट' ऐसा स्मरण होता है। इस कारण समस्त स्मृतियाँ या तो अयथार्थ हैं या तो अयथार्थ अनुभव हैं[35]।

आगे पुनः स्मृति के अप्रमात्व का उपस्थापन करने के लिए गङ्गेशोपाध्याय युक्ति देते हैं कि स्मृति अपने विषय के वर्तमानत्व को विषय करती है क्योंकि उसमें न तो अतीतता का भान होता है और न तो अनागतता का भान होता है। जिस किसी भी प्रतीति में उस प्रतीति के विषय के अतीतत्व या अनागतत्व का भान नहीं होता, उस हर एक प्रतीति के विषय के वर्तमानत्व का भान होता है, जैसे कि प्रत्यभिज्ञा में, या जैसे घट आदि के ज्ञान में। हर वह प्रतीति समयविशेष (वर्तमानकाल) को विषय करती है, जिसमें अतीतत्व या भविष्यत्व का भान नहीं हो रहा हो। स्मरण जब भी होता है, उसमें 'वह घट' इस प्रकार से प्रतीति होती है, परन्तु उसमें न तो अतीतत्व का भान होता है और न तो भविष्यत्व का। इस कारण स्मृति के विषय की वर्तमानता अवश्य भासित होगी, इस कारण मृत पिता आदि की स्मृति में पिता की वर्तमानता यदि भासित हो रही है, तो स्मृति की अयथार्थता ही प्रतीत हो रही है। इसी कारण पाक होने के उपरान्त यदि घट में 'श्याम घट' इस प्रकार का यदि ज्ञान हो रहा हो, तो उस ज्ञान की अयथार्थता का व्यवहार लोक में किया जाता है। इस ज्ञान में न तो श्याम घट के अतीतत्व का भान होता है और न तो भविष्यत्व का, इस कारण श्याम घट का वर्तमानत्व भासित होता है। वस्तु स्थिति यह है कि वर्तमान काल में घट में श्यामत्व है नहीं, उस घट में तो रक्तत्व है। परन्तु इसके विपरीत ज्ञान में श्यामत्व की वर्तमानता का भान हो रहा है[36]। गङ्गेशोपाध्याय के तर्क को एक व्यावहारिक उदाहरण लेकर इस प्रकार से समझा जा सकता है। प्रातःकाल मैंने कोई वस्तु अपने शयनकक्ष में देखी थी, उस वस्तु की मुझे अपेक्षा है तथा मुझे उस वस्तु की स्मृति होती है। तो सायंकाल भी मैं उस वस्तु को ग्रहण करने के लिए शयनकक्ष में जाता हूँ। सम्भव है कि दिन में उस वस्तु को किसी अन्य किसी व्यक्ति ने उस स्थान से उठाकर किसी अन्य स्थान पर रख दिया हो। इसी प्रकार किसी ऐसे व्यक्ति का हमें स्मरण होता है, जो कि वस्तुतः मर चुका है, परंतु मुझे उसके मृत होने का ज्ञान नहीं है, तो उस व्यक्ति के वर्तमान काल में अवस्थान का मुझे भान होता है। इस प्रकार इन सारे ही स्थलों में स्मृति के द्वारा उसी वस्तु का ज्ञान कराया जा रहा है, जो वस्तु है नहीं। अतः स्मृति का यथार्थत्व स्वीकार्य नहीं हो सकता। यदि किसी स्थल में स्मृति की यथार्थता दिखती है तो उसको सांयोगिक अथवा पूर्वानुभव की यथार्थता पर निर्भर ही समझना उचित है।

गङगेशोपाध्याय स्मृति की अयथार्थता को एक अन्य युक्ति से भी सिद्ध करते हैं कि स्मृति में तत्ताविशिष्ट की वर्तमानता भासित होती है[37], ऐसी स्थिति में या तो विशेषण और या तो विशेष्य दोनों में से किसी एक का अभाव निश्चित तौर पर रहेगा। या तो तत्ता की वर्तमानता नहीं होगी या तो तत्ता जिस व्यक्ति में है उस व्यक्ति की वर्तमानता नहीं होगी। इस कारण हर एक स्मृति में तदभाववान् में तद्वत्ता प्रतीत हो रही है। इस कारण स्मृति की यथार्थता ही नहीं बन पायेगी। अतः यदि प्रमा के लक्षण में अनुभव पद का प्रवेश न करें, तब भी स्मृति का प्रामाण्य सम्भव नहीं है। गङगेशोपाध्याय की यह युक्ति कमजोर है क्योंकि इस युक्ति को स्वीकार करने पर प्रत्यभिज्ञा का प्रामाण्य नहीं हो सकेगा। यह वही देवदत्त है, इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञा में देवदत्त में तत्ता तथा इदन्ता दोनों का वैशिष्ट्य भासित होता है, परन्तु उपर्युक्त युक्ति के आधार पर तत्ता की भी वर्तमानता देवदत्त में भासित होगी, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि तत्ता देवदत्त में है नहीं। इस कारण तदभाववान् में तद्वत्ता की प्रतीति होने के कारण प्रत्यभिज्ञा का प्रामाण्य नहीं हो सकेगा। इसी कारण गङेग्श की पूर्ण सहमति इस युक्ति में नहीं है, इसी लिए यद्वापद के द्वारा यह पक्ष उन्होंने उठाया है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि हर एक स्मृति में तत्ता का भान हो ही, अनेक स्मृतियाँ ऐसी होती हैं जिनमें तत्ता का भान होता ही नहीं। तब उन स्मृतियों की यथार्थता तो स्वीकार ही करनी पड़ेगी। तो क्या कुछ स्मृतियों का प्रमात्व तथा कुछ का अप्रमात्व स्वीकार किया जाये ? ऐसा भी स्वीकार उचित नहीं दिखता। गङेग्श समाधान देते हैं कि स्मृति के यथार्थ होने पर भी स्मृति के प्रति कारणीभूत अनुभव के प्रमात्व पर स्मृति के प्रमात्व के निर्भर होने के कारण स्मृति का प्रामाण्य नहीं स्वीकार किया जाता। इसी कारण स्मृति के अप्रमात्व का सिद्धान्त सर्वतन्त्रसम्मत है।[38]

कुछेक बिन्दुओं पर यदि हम अपना ध्यान केन्द्रित करें तो पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा का अनुसरण करते हुए स्मृति को नॉलेज मानना तथा प्रमाण के रूप में स्वीकार करना उचित नहीं दिखायी देता। बर्ट्रेण्ड रसेल तथा गेटियर ने 'सांयोगिक रूप से किसी ज्ञान के सत्य होने की स्थिति में उसको नॉलेज मानना क्या उचित है ?' ऐसा प्रश्न उठाकर किसी बिलीफ के सत्यापित हो जाने मात्र से उसको नॉलेज नहीं माना जा सकता, ऐसा सिद्धान्त प्रस्तुत किया था[39]। भारतीय परिप्रेक्ष्य में यह प्रश्न बहुत प्राचीन है। श्रीहर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य में प्रायः एक हजार वर्ष पूर्व कुछ ऐसा ही प्रश्न उठाया था

कि क्या सांयोगिक रूप से सत्य होने की स्थिति में किसी ज्ञान को प्रमा माना जाना उचित है ? ठीक ऐसा प्रश्न स्मृति के विषय में उठ सकता है कि 'यदि किसी ज्ञान की सत्यता किसी अन्य ज्ञान की सत्यता पर निर्भर है, तो क्या उस स्थिति में भी उस ज्ञान के सिर्फ सत्य होने के कारण उसे नॉलेज या प्रमा कहा जा सकता है ?' निश्चय ही इसका उत्तर सकारात्मक देना उचित नहीं, नकारात्मक ही देना होगा। पाश्चात्य चिन्तकों ने यह तो देखा कि स्मृति कभी यथार्थ होती है, तथा कभी अयथार्थ होती है। परन्तु इस अयथार्थता का कारण उन्होनें यह समझा कि जब उसमें कल्पना आ जाती है तो स्मृति यथार्थ नहीं रह जाती। कभी कभी हमें ज्ञान तो सत्य हुआ था, परन्तु हमें स्मृति ऐसी होती है, जो कि यथार्थ नहीं होती क्योंकि उसमें हमारी कल्पना मिल जाती है[40]। परन्तु पाश्चात्य चिन्तकों ने इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया कि ऐसा कभी भी नहीं होता है कि स्मृति तो यथार्थ हो रही हो परन्तु उस स्मृति के विषय को विषय करनेवाला पूर्वकालीन अनुभव यथार्थ न रहा हो क्योंकि उनके यहाँ स्मृति का विषय तथा अनुभव का विषय एक ही नहीं है। उन्होंने प्रत्यक्ष के विषय तथा स्मृति के विषय का निर्धारण कुछ विचित्र प्रकार से किया। नैयायिकों के समान उन्होंने यह नहीं माना कि प्रत्यक्ष का विषय तथा स्मृति का विषय एक ही है। न्यायवैशेषिक परम्परा में उदयनाचार्य वल्लभाचार्य, गङ्गेशोपाध्याय आदि आचार्यों के द्वारा उपस्थापित समस्याओं के मद्देनजर स्मृति के प्रमात्व को स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं दिखता। तर्क की कसौटी पर कसते हुए गम्भीर विवेचन करने पर तो स्मृति की यथार्थता भी सम्भव नहीं दिखती। इस कारण स्मृति को प्रमा न मानने का नैयायिकों का निर्धारण ही समुचित और सर्वतंत्र स्वतंत्र दिखता है।

दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. *यदसाधारणं सहकारिणमासाद्य मनो बहिर्गोचरां प्रमां जनयति तस्य प्रमाणान्तरत्वात्। पृ. 1189 तत्त्वचिन्तामणि अनुमितिखण्ड परामर्शप्रकरण, अनुमानगादाधरी, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराण्सी, 1934*
2. *विद्यापि चतुर्विधा– प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्ष्णा। पृ. 441, प्रशस्तपादभाष्य, न्यायलीलावतीसहित, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1977*

3. स्मृतिरपि मानान्तरमेव, अर्थनिश्चयहेतुत्वात्। पृ. 621 न्यायलीलावती, वर्धमानोपाध्याय कृत न्यायलीलावतीप्रकाश, शंकमिश्रकृत कण्ठाभरण, तथा भगीरथ ठक्कुरकृत न्यायलीलावतीप्रकाशविवृतिसहित, संपा. ढुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी 1934

4 संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। तर्कसङ्ग्रह

5 बाधकालीनेच्छाजन्यं ज्ञानमाहार्यम्।

6 अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना। न्यायबिन्दु

7 *Perhaps the correct answer is that is no one thing that is universally present in every such instance of remembering. P.164 The Problem of Knowledge, A.J. Ayer, Macmillan & Company LTD. London 1956*

8 प्रमाणस्य गृहीततदितरविषयप्रवृत्तस्य प्रामाण्ये विशेषाभावात। पृ. 33 न्यायमंजरी, प्रथम भाग, ग्रन्थिभंग व्याख्यासहित, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1982

9 न ह्यधिगते अधिगतिरेव नोत्पद्यते, कारणानामप्रतिबन्धात्। गद्यपद्यात्मक न्यायकुसुमांजलि 4/1 संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1973

10 न चोत्पद्यमानापि प्रमातुरनपेक्षितेति न प्रमा, प्रामाण्यस्यातदधीनत्वात्। वहीं

11 न स्मृतेरप्रामाण्यं गृहीतग्राहिताकृतम्, अपित्वनर्थजत्वं तदप्रामाण्यकारणम्। न्यायमंजरी पृ. 34

12 स चानुमानग्राह्यो धर्मी विद्यत एवेति नानर्थजमनुमानम्। वहीं

13 ये त्वनर्थजत्वात् स्मृतेरप्रामाण्यमाहुः, तेषामतीतानागतविषयस्यानुमानस्याप्रामाण्यं स्यादिति दूषणम्। न्यायकन्दली पृ. 628

14. तस्याः पूर्वानुभवविषयत्वोपदर्शनेनार्थं निश्चिन्वत्या अर्थपरिच्छेदे पूर्वानुभवपारतन्त्र्यात्। वहीं पृ. 627

15 पूर्वज्ञानविज्ञानविषयं विज्ञानं स्मृतिरुच्यते। पूर्वज्ञानाद्विना तस्याः प्रामाण्यं नावगम्यते।। तत्र यत्पूर्वविज्ञानं तस्य प्रामाण्यमिष्यते। तदुपस्थापनमात्रेण स्मृतेश्चरितार्थता।। वहीं।

16 न प्रमाणं स्मृतिः पूर्वप्रतिपत्तेरपेक्षणात्। अन्योन्यनिरपेक्षास्तु धारावाहिकबुद्धयः।। प्रकरणपञ्चिका

17 व्यवहारेपि पूर्वानुभव एव प्रमितिरनपेक्षत्वात्। न तु स्मृतिः नित्यं तदपेक्षणात्। गद्यपद्यात्मक न्यायकुसुमाजलि 4/1 पृ. 507

18 नन्वेवमनुमानमप्यप्रमाणमापद्येत् मूलप्रत्यक्षानुविधानात्। न विषयभेदात्। वहीं

19. आगमस्तर्हि न प्रमाणम्, तद्विषयमानान्तरानुविधानात्, न प्रभातृभेदात्। वही पृ. 508

20 यदि हि स्मृतिर्न प्रमितिः, पूर्वानुभवे किं प्रमाणम् ? स्मृत्यन्यथानुपपत्तिरिति चेन्न, तया कारणमात्रसिद्धेः, न तु तेनानुभवेन भवितव्यमिति नियामकमस्ति। वहीं पृ. 510

21 अननुभूतेऽपि तर्हि स्मरणं स्यादिति चेत् ? किं न स्यात्, न ह्यत्र प्रमाणमस्ति। वहीं पृ. 510–511

22 तदप्रामाण्येऽपि पूर्वापरावस्थावदात्मप्रत्यभिज्ञातप्रामाण्यादेव तदुपपत्तेः। वहीं पृ. 512

23 स्मृत्यनुभवयोरप्रमाप्रमाव्यपदेशस्तान्त्रिकाणां सापेक्षत्वनिरपेक्षत्वनिबन्धनः। पृ. 398 तत्त्वचिन्तामणिः प्रत्यक्षखण्ड, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, 1973

24 स्मृतिरपि मानान्तरमेव, अर्थनिश्चयहेतुत्वात्। न्यायलीलावती पृ. 620

25 ध्येय है कि मीमांसक प्रमुखतया कुमारिल भट्ट ज्ञान के द्वारा विषय में ज्ञातता या प्राकट्य् नामक फल की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। उसी के कारण किसी वस्तु घट आदि का ज्ञान होने के उपरान्त हमें 'ज्ञातो घटः' ऐसा अनुभव होता है।

26 फलाभावेन ज्ञप्तिपारतन्त्र्याभावात्। न्यायलीलावती पृ. 620

27 इच्छावद्विषये परापेक्षायां ज्ञानत्वव्याघातः। वहीं

28 तत्तावच्छिन्नं हि स्मृतिरर्थमाकलयति, सा च यदि पूर्वानुभवस्यापि गोचरः, तदा तत्रापि तदित्युल्लेखः स्यात्, न च क्वचिदिदमिति स्यात्। न चेत्, स्मृतिरेव तत्रानपेक्षेति मानस्। वहीं पृ. 621–622

29\. तत्ता च न ज्ञातता, ज्ञातोयं सोयमित्यनयोरविशिष्टविषयतापत्तेः। वहीं पृ. 622

30 लौकिकानां प्रामाणिकानाञ्च सत्यज्ञान एव प्रमाव्यवहारदर्शनात्। वहीं पृ. 623

31 न ह्यत्र सत्यज्ञानत्वं सत्यानुभवत्वं वा प्रामाण्यं साध्यम्, यथाक्रमं सिद्धसाधनबाधयोः सत्त्वात्। वहीं पृ. 624

32 प्रमाणाभियुक्तानां चाक्षचरणकणभक्षादीनां स्मृतौ प्रमाणव्यवहारभावात्,.... पूर्वानुभवापेक्षतयैव वा विषयप्रतीतिनियमात्, इच्छादिवत्। वहीं पृ. 624–625

33 तत्ता चातीतज्ञानवैशिष्ट्यमतीतसमयावच्छेदो वा, स चानुभवोत्तरकालमवभासत एव। वहीं पृ. 626

34 तस्य च वृत्ततामन्यतोनुसन्धाय तदिति तद्वाचकोल्लेखी व्यवहार इति। वहीं पृ. 628

35 इदन्तानुल्लेख्यनुभवप्रभवस्मरणे धर्मान्तरमेव तत्तया भासते। अत एवायं घट इति न स्मरणम्। अत एव सर्वा स्मृतिरयथार्था अयथार्थानुभवा च। तत्त्वचिन्तामणि, प्रत्यक्षखण्ड पृ.884

36 यद्वा नेयं यथार्था तथाहि स्मृतिः स्वविषयवर्तमानत्वविषया अतीतानागतागोचरप्रतीतित्वात्, प्रत्यभिज्ञावत्, प्रतीतित्वाद्वा घटोस्तीति प्रतीतिवत्। अत एव पाकरक्ते श्यामोयमिति धियोऽयथार्थत्वव्यवहारः लौकिकानां श्यामत्ववस्य वर्तमानत्वेनावगमात्। वहीं पृ. 887

37 यद्वा स घट इति स्मृतौ तत्ताविशिष्टस्य वर्तमानता भासते। वहीं

38 अत एव संस्कारहेत्वनुभवप्रामाण्यपारतन्त्र्येण यथार्थत्वेऽपि स्मृतिरप्रमेति सर्वतन्त्रसिद्धान्तः। वहीं पृ. 886

39 देखें– Burtrend russel, *Human Knowledge: Its Scope and Limits*, p. 155. New York: Simon and Schuster, 1948. Admund L. Gettier, "Is Justified True Belief Knowledge ?" *Analysis*, 23 (1963) pp. 121-123.

40\. नैयायिक कल्पना को मानसप्रत्यक्षरूप मानते हैं, परन्तु वह तदभाववान् में तद्वत्ता को विषय करती है। इस कारण प्रमा नहीं है।

आधुनिक प्रौद्योगिकी : समसामयिक विमर्श

आलोक टण्डन

आधुनिक प्रौद्योगिकी ने जीवन के हर क्षेत्र में काया पलट कर दी है। न केवल मनुष्य और प्रकृति के बीच रिश्ते प्रौद्योगिकी से तय होते हैं अपितु आज मनुष्य और मनुष्य के बीच संबंधों को भी प्रौद्योगिकी परिभाषित करने लगी है। प्रौद्योगिकी अब एक विचारधारा बन गई है। एक ऐसी विचारधारा जो सभी सांस्कृतिक दृष्टियों से उपर हमारे जीवन में व्याप्त हो रही है। इसके अनुसार मानवता की सभी समस्यायें प्रौद्योगिकी द्वारा सुलझाई जा सकती हैं। इसके बिना कोई समाज प्रगति नहीं कर सकता। इसके समर्थकों की मान्यता है कि प्रौद्योगिकी अपने आप में तटस्थ है, यह जितनी नई होगी अनिवार्यतः उतनी ही अच्छी होगी। इसलिए प्रौद्योगिकी के विकास के लिए सब कुछ किया जाना चाहिए और वह सब भी जो प्रौद्योगिकी से संभव है। लेकिन वास्तविकता क्या इतनी सीधी–सादी है? यह सही है कि प्रौद्योगिकी के विकास ने मनुष्य की क्षमताओं को अविश्वसनीय सीमाओं तक बढ़ा दिया है। नये–नये उत्पादों और सेवाओं के सृजन से मनुष्य जीवन को दीर्घायु, सुखी और पूर्ण बनाने की संभावनाओं के द्वार खुलने लगे हैं। किंतु यहाँ यह प्रश्न पूछना भी समीचीन होगा कि प्रौद्योगिकी की क्षमताओं, संभावनाओं और वास्तविकता के बीच इतनी दूरी क्यों ? क्या हम क़ह सकते हैं कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी द्वारा परिवर्तित यह मानव समाज युक्तिसंगत, न्यायसंगत और सुखपूर्ण है ? सच तो यह है कि मानव इतिहास में प्रौद्योगिकी की भूमिका हितैषी भी रही है और विनाशकारी भी। आज भी प्रौद्योगिकी का मुख्य इस्तेमाल सैनिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया जा रहा है, इसी के सहारे एक महाशक्ति शेष विश्व पर अपना वर्चस्व बनाये हुए है। अपना वर्चस्व और जीवन शैली बनाये रखने के लिए जिस बड़े पैमाने पर प्राकृतिक संसाधनों का दोहन किया जा रहा है, उसने पर्यावरण का संकट पैदा कर दिया है। परिवर्तन की आंधी के सामने समाज का ताना–बाना बिखरता–सा दिखाई दे रहा है। सामाजिकता का ह्रास, पारिवारिक टूटन, अलगाव और

अकेलेपन की समस्यायें और सबसे बढ़कर मनुष्य के मात्र व्यक्तिहीन उपभोक्ता में तब्दील हो जाने की त्रासदी हमारे समय में प्रौद्योगिकी की भूमिका पर पुनर्विचार की जरूरत को रेखांकित करने के लिए काफी है। प्रस्तुत आलेख की सीमाओं में सभी प्रश्नों पर तो विचार संभव नहीं है किंतु प्रौद्योगिकी और विकास से जुड़े कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर विमर्श का प्रयत्न अवश्य ही श्लाघ्य है।

(1)

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि प्रौद्योगिकी स्वयं मनुष्य का एक रचनात्मक प्रयास ही है किंतु कई बार इसकी मानव–विरोधी भूमिका का रहस्य क्या है ? क्या इसके पीछे तकनीक पर पूंजी का वर्चस्व है ? या प्रौद्योगिकी स्वयं इसके लिए जिम्मेदार है ? इन सवालों का जवाब ढूंढ़ने के लिए यह जानना भी जरूरी है कि क्या प्रौद्योगिकी का चरित्र मूल्य–निरपेक्ष है या सदियों से उसका कोई वर्ग चरित्र भी रहा है ? क्या शोषणदायिनी और मुक्तिदायिनी प्रौद्योगिकी में अंतर संभव है ? यदि हां तो प्रौद्योगिकी का चयन एक राजनीतिक प्रश्न है जिसमें सार्थक जन–हस्तक्षेप की संभावनायें ढूंढ़ने के लिए प्रौद्योगिकी और सत्ता के संबंध को समझना भी जरूरी है। इन संबंधों का व्याकरण स्पष्ट हो जाने पर भी उस व्यापक प्रश्न से बचना संभव नहीं है, जो इस विमर्श के केन्द्र में है – क्या प्रौद्योगिकी केन्द्रित विकास को सच्चे अर्थों में मानवीय प्रगति का समानार्थी माना जा सकता है ? यदि हां, तो उसके दुष्परिणामों से कसे बचा जाये और यदि न, तो फिर प्रौद्योगिक उन्नति का मानव–मूल्यों में कौन–सा स्थान होना चाहिए ? यदि प्रौद्योगिक उन्नति से मानव सुख में कोई वृद्धि नहीं हुई है तो क्या पीछे लौट जाना चाहिए और क्या यह संभव भी है ? ये सवाल हमारे समय के प्रमुख विचारकों के चिंतन के केन्द्रीय विषय रहे हैं, जिनका समुचित उत्तर ही मानव जाति का भविष्य निर्धारित करेगा। आईये, सिलसिलेवार ढंग से इनकी विवेचना का प्रयास करें।

सबसे पहले यह बात साफ हो जानी चाहिए कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी में अंतर है। जिसे हम आधारभूत विज्ञान कहते हैं उसका संबंध मानव और प्रकृति के रहस्यों पर से पर्दा हटाने से है जबकि प्रौद्योगिकी व्यावहारिक उद्देश्यों से चालित होती है। एक वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला के एकांत में अपने शोधकार्य के परिणामों से निरपेक्ष, व्यस्त रह सकता है

किंतु प्रौद्योगिकी सामाजिक मूल्यों के हिसाब से बनती है। उदाहरण के लिए रेडियो तरंगों की खोज विज्ञान का विषय है किंतु इसको किस तरह प्रयुक्त किया जाता है, वह प्रौद्योगिकी का विषय है। इसीलिए टेलीविजन प्रौद्योगिकी है और उसमें क्या दिखाया जाता है, इसका निर्णय समाज अपनी संस्थाओं द्वारा करता है। व्यवसायीकरण के इस दौर में यह प्रौद्योगिकी जितना सूचना प्रसार का माध्यम नहीं, उससे ज्यादा मनोरंजन और व्यावसायिक मूल्यों को बढ़ाने का है। किंतु विज्ञान और प्रौद्योगिकी को अलग–अलग विश्लेषित करने का ढंग अब कुछ पुराना–सा हो गया है क्योंकि नवीनतम प्रौद्योगिकी में जैसे–सूचना प्रौद्योगिकी, जैव प्रौद्योगिकी और अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में विज्ञान और प्रौद्योगिकी आपस में इस कदर गुंथे हुए हैं कि उन्हें अलगाना संभव नहीं दिखता। आज वैज्ञानिक शोध के लिए बड़े पैमाने पर पूंजी और विकसित तकनीकी उपकरणों की जरूरत होती है जिन्हें प्रदान करने वाले संस्थान (सार्वजनिक या व्यक्तिगत) वैज्ञानिक खोजों को अपने हित साधन के लिए उपयोग करने के उद्‌देश्य से ही सहयोग प्रदान करते हैं। ऐसे में यह कहना कठिन हो जाता है कि विज्ञान कहाँ पर खत्म होता है और प्रौद्योगिकी कहाँ से शुरू होती है। अतः जब हम आधुनिक प्रौद्योगिकी–समाज की जाँच–पड़ताल कर रहे हों तो विज्ञान और प्रौद्योगिकी को विभाजित करके नहीं देखा जाना चाहिए। दोनों वस्तुतः एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

अधिकांश लोगों को यह लगता है कि आखिर प्रौद्योगिकी के बारे में इतना सोचने की जरूरत क्या है ? यद्यपि उनकी यह सोच कुछ पूर्व मान्यताओं के स्वीकार पर आधारित है। पहली यह कि प्रौद्योगिकी देशकाल निरपेक्ष है, मूल्य–निरपेक्ष है, न पश्चिमी है, न पूर्वी, न अच्छी, न बुरी। इसका अच्छा या बुरा परिणाम इस बात पर निर्भर करता है इसका उपयोग किस तरह से हो रहा है। दूसरी मान्यता यह है कि आधुनिक प्रौद्योगिकी प्रगति की निशानी है। देर–सवेर इसे अपनाने में ही हर समाज की भलाई है। इसे अस्वीकार करना इतिहास के बहाव के विपरीत तैरना है। इस विषय पर किसी भी प्रकार के सार्थक विमर्श के लिए उपर्युक्त मान्यताओं का परीक्षण आवश्यक है।

प्रौद्योगिकी देश–काल, मूल्य–निरपेक्ष है या सापेक्ष इस पर विचार करने से पूर्व यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि प्रौद्योगिकी को हम किस तरह परिभाषित करेंगे ? जो लोग प्रौद्योगिकी की निरपेक्षता के समर्थक हैं, वे उसे

केवल औजारों और मशीनों तक सीमित मानते हैं जिनका उपयोग मनुष्य अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए करता है। लेकिन वे लोग जो प्रौद्योगिकी की सापेक्षता के समर्थक हैं, वे उसे एक विशेष प्रकार की सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते हैं जिनके अंतर्गत, मनुष्य, औजारों की मदद से, निरपेक्ष यथार्थ को अपने भौतिक उद्देश्यों के लिए रूपांतरित करता है। उनके अनुसार प्रौद्योगिकी हर स्तर पर मूल्य–सापेक्ष ही होती है, फिर चाहे प्रक्रिया डिजाइन की हो, निर्माण की हो या परिणामस्वरूप बनने वाले औजारों और उत्पादों की हो। प्रौद्योगिकीय उत्पादों के इस्तेमाल की मूल्य–सापेक्षता से तो शायद ही कोई इनकार करे, किंतु उसके पूर्व हर स्तर पर मूल्य–सापेक्षता की स्थापना आगे विश्लेषण की अपेक्षा करती है।

राजनैतिक और सामाजिक कारकों के संपर्क में आने और अपने प्रयोग से पूर्व ही प्रौद्योगिकी मूल्यनिष्ठ होती है, इस मान्यता का आधार यह तथ्य है कि प्रत्येक प्रौद्योगिकी अनोखी होती है, सार्वभौमिक नहीं। प्रत्येक प्रौद्योगिकीय औजार और वस्तु, जानकारी, संसाधनों और ऊर्जा का एक विशेष ढंग से इस्तेमाल करती है और उसकी अपनी विशिष्ट क्षमतायें और विशेषतायें होती हैं। उसका निर्माण ही एक चयन की प्रक्रिया के अंतर्गत होता है जो किन्हीं जानकारियों, ऊर्जा और संसाधनों को दूसरों पर वरीयता प्रदान करता है। इस चयन का कोई पूर्णतया निरपेक्ष तकनीकी आधार नहीं होता अपितु इसके पीछे अन्य निर्णयों की तरह विश्व दृष्टि ही कार्यशील होती है।

तकनीकी वस्तुएँ अपने इस्तेमाल के तरीके भी हम पर थोपती हैं, उनके प्रयोग में अधिक स्वतंत्रता नहीं होती। प्रत्येक मशीन या वस्तु एक विशेष ढंग से काम करती है जिसके लिए उसे विशेष प्रकार की चीजों की जरूरत होती है और उसका परिणाम भी विशेष ही होता है। उदाहरण के लिए चाहे आणविक बम हो या डिब्बा खोलने वाला मामूली ओपनर, दोनों के प्रयोग के तरीके पूर्व निर्धारित होते हैं, मनमाने ढंग से उनका उपयोग नहीं हो सकता। इसी तरह कंप्यूटर हमारे सामने चयन की कुछ संभावनायें खोलता है तो कुछ बंद भी करता है। वह अपने प्रयोग का तरीका हम पर थोपता है। चयन की यह स्वतंत्रता/परतंत्रता तकनीकी की संरचना पर निर्भर करती है।

कोई भी तकनीकी शिल्पकृति किन्हीं विशिष्ट मूल्यों की वाहक होती है जो अन्य शिल्प कृतियों में नहीं होते। उदाहरण के लिए विभिन्न संचार

तकनीकें स्थान और काल के संबंध में अपने–अपने विशिष्ट ढंग से पक्षपात करती हैं। प्रिंट तकनीक में स्थान, मौखिक संवाद की तकनीक (टेलीफोन) में समय, टेलीविजन पर तात्कालिकता और सिनेमा में यथार्थपरक कल्पनात्मक बिंबों के प्रति पूर्वाग्रह रहता है।

ज्यों–ज्यों तकनीकी संश्लिष्टता बढ़ती जाती है त्यों–त्यों उनके प्रयोग के तरीकों की रूढ़िवादिता भी बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए कंप्यूटरों के अधिक प्रयोग से समाज में एकरूपता लाने वाली प्रक्रियाओं को प्रोत्साहन मिलता है। कंप्यूटर की अपनी विशिष्ट क्षमतायें और सीमायें हैं। ये मूल्य निरपेक्ष नहीं हैं जैसा कि कई अध्ययनों से स्पष्ट हो चुका है।

हर तकनीकी प्रक्रिया अपने भीतर उन मूल्यों को छिपाये रहती है जो मनुष्य ने उनमें पिरोये हैं–जाने या अनजाने। इससे इनकार करके वैज्ञानिक और इंजीनियर अपनी जिम्मेदारी से बचने का प्रयास करते हैं। ज्यादा खतरनाक रूप में यह एक प्रकार के प्रौद्योगिकीय निर्धारणवाद को बढ़ावा देता है, जो मानता है कि प्रगति को प्रौद्योगिकी का आंतरिक तर्क ही गति प्रदान करता है। यह तकनीकी मूल्यों–परिणाम, नियंत्रण, एकरूपता और समन्वय–को अनावश्यक रूप से महत्त्व प्रदान कर इस धारणा को बल प्रदान करता है कि यदि किया जा सकता है तो यह किया जाना चाहिए।

हमारे उपर्युक्त विश्लेषण से यह तो स्पष्ट हो ही गया कि प्रौद्योगिकी अपने प्रयोग के पूर्व भी कोई निरपेक्ष विधा नहीं है। लेकिन जब हम प्रौद्योगिकी की सामाजिक भूमिका का मूल्याँकन करना चाहते हैं तो यह जानना भी जरूरी है कि उसका वर्ग चरित्र क्या है ? अर्थात् प्रौद्योगिकी का विकास, प्रयोग, उपभोग कौन, किसके हितों के लिए कर रहा है और उसके क्या परिणाम निकल रहे हैं ? इसके लिए प्रौद्योगिकी के बाजार, सत्ता, आर्थिक उपनिवेशवाद और उपभोक्तावाद से रिश्तों की जाँच–पड़ताल भी जरूरी है।

ऐतिहासिक रूप से प्रौद्योगिकी का विकास ज्यादातर पूंजीवाद के संरक्षरण में हुआ है। इसलिए आधुनिक प्रौद्योगिकी के साथ पूंजीवाद के यथार्थ और उसके सरोकार आनिवार्य रूप से जुड़े हुए हैं। परिणामस्वरूप आधुनिक प्रौद्योगिकी पहले से ही मजबूत वर्गों को और अधिक समृद्ध और शक्तिशाली बनाने का कार्य करता रहा है। ऐसा देश के भीतर और बाहर दोनों जगहों पर होता है। विकसित और विकासशील दोनों ही तरह के देशों

के धनी, शक्तिशाली और प्रौद्योगिकी संपन्न सामाजिक समूह आपस में मिलकर अपने पास्परिक हितों के लिए कार्य करते हैं।

जब कोई बहुराष्ट्रीय कंपनी किसी शोध कार्य को प्रायोजित करती है, तो उसके सामने यह स्पष्ट उद्देश्य होता है कि शोध की सफलता उसके लाभ को बढ़ाने में सहायक होगी। उसमें किसी प्रकार का मानवीय या सामाजिक उद्देश्य खोजना बेमानी होगा। आज जबकि ऊर्जा से लेकर उपभोक्ता सामान तक की सारी महत्त्वपूर्ण प्रौद्योगिकी पर बहुराष्ट्रीय निगमों का कब्जा है, यह समझने में भूल नहीं होनी चाहिए कि आधुनिक प्रौद्योगिकी किसके हितों को संरक्षण प्रदान कर रही है।

सैनिक वर्चस्व के लिए नयी–नयी प्रौद्योगिकी का विकास और उपयोग कोई नई बात नहीं है। हिटलर ने दूसरे विश्व युद्ध में इसी के बल पर एक छत्र राज्य कायम करने की कोशिश की थी। अमेरिका ने भी एटम बम को विकसित करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। आज भी अमेरिका अपनी उन्नत सैन्य प्रौद्योगिकी के बल पर ही सारे विश्व में अपनी मनमानी करता फिरता है। ऐतिहासिक रूप से अपना साम्राज्य बढ़ाने के लिए तकनीक का प्रयोग उपनिवेशों की जनता की यादों से अभी मिटा नहीं है। ऐसे में यह सवाल उठाना समीचीन ही होगा कि क्या कोई मुक्तिदायिनी प्रौद्योगिकी संभव है जो बाजार और सत्ता से परे जन–साधारण के हित में कार्य कर सके ? लेकिन इस बड़े सवाल से दो चार होने से पहले हमें यह भी विचार करना होगा कि एक प्रौद्योगिकीय समाज की समस्यायें क्या–क्या हैं जो विशेष रूप से प्रौद्योगिकी से संबंधित हैं ?

(2)

आधुनिक प्रौद्योगिकी की पहली समस्या यह है कि यह ऊर्जा के ऐसे साधनों पर निर्भर है जिनका भंडार सीमित है। जब कोयला, पेट्रोलियम आदि खत्म हो जायेंगे तो उन पर आधारित प्रौद्योगिकी का क्या होगा ? प्रश्न यह हैं कि जब तक ऊर्जा के वैकल्पित स्रोत विकसित नहीं हो जाते, क्या हमें, पारंपरिक ऊर्जा स्रोतों को बचाने हेतु विकास की रफ्तार कम कर देनी चाहिए या विज्ञान की क्षमाताओं में विश्वास कर विकास की दर को बनाये रखना चाहिए ?

टेक्नोलॉजी के साथ दूसरी समस्या उसका नया होना है। नयेपन के आकर्षण में उसे स्वीकार करना तो आसान है किंतु हम उसके प्रयोग से होने

वाले चाहे–अनचाहे परिणामों से वाकिफ नहीं होते। प्राकृतिक जगत की प्रक्रियायें आपस में एक–दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई हैं। एक विषय में ज्ञान के आधार पर किसी एक क्षेत्र में किये एक मानवीय हस्तक्षेप की दूसरे क्षेत्रों में क्या प्रतिक्रिया होगी, इसका हमें एहसास तक नहीं होता। इस समझ के लायक विकसित, समग्र प्राकृतिक ज्ञान अभी हमारे पास नहीं है। विश्व व्याप्त पर्यावरण संकट के पीछे यह भी एक कारण है कि मनुष्य को प्राकृतिक जगत में अपने हस्तक्षेप की सीमाओं का पूर्ण ज्ञान नहीं था और प्रकृति के ऊपर निरंकुश स्वामित्व के दंभ ने उसे अपने हस्तक्षेप के अप्रत्याशित परिणामों की ओर सचेत नहीं रहने दिया।

टेक्नोलॉजी ट्रान्सफर की समस्या भी एक गंभीर समस्या है। इस पर विवाद की गुंजाइश ज्यादा है। विकसित देशों की प्रौद्योगिकी पूंजी बहुल और श्रम संकुल है जबकि अविकसित देशों के पास पूंजी कम और श्रम की बहुतायत है। साथ ही तकनीकी का स्थानांतरण जहाँ अपने लिये नये प्रकार के श्रमिकों की मांग करता है वहीं पहले से स्थापित कई रोजगारों को नष्ट करके उनमें लगे श्रमिकों को बेरोजगार भी कर देता है। इसी के साथ जुड़ी समस्या सांस्कृतिक अलगाव की है। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, प्रौद्योगिकी एक सांस्कृतिक प्रक्रिया भी है। इसलिए विकसित देशों में लाई गई प्रौद्योगिकी का कई स्थितियों में अविकसित देशों की संस्कृति से टकराव होता है जिसके फलस्वरूप सांस्कृतिक अलगाव की समस्या पैदा हो जाती है। यहाँ यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या सभी को एक सी प्रौद्यौगिकी अपनानी चाहिए या अपनी जरूरतों के हिसाब से अलग–अलग प्रौद्योगिकी का सृजन करना चाहिए ?

पूंजीवादी प्रौद्योगिकी के अंतर्गत एक औद्योगिक मजदूर के अलगाव की समस्या पर हमारा ध्यान बहुत पहले ही मार्क्स ने दिलाया था कि किस तरह वह–1. अपने श्रम से, 2. अपने उत्पाद से, 3. अपने आप से और 4. दूसरों से अलगाव में जीता है। यह समस्या आज भी है। आधुनिक प्रौद्योगिकी कुछ इस तरह से कार्य करती है कि उससे अधिकतक लाभ उठाने के लिए उसकी कार्य प्रणाली के अधीन कार्य करना होता है। उसे हम पुरानी प्रौद्योगिकी की तरह जैसे हथौड़ा, सीधे–सीधे नियंत्रित नहीं कर सकते। बढ़ी हुई कुशलता हमें यांत्रिकता की कीमत पर प्राप्त होती है जो हमारे व्यक्तित्व के सृजनात्मक पक्ष की अवहेलना करती है। यह यांत्रिकता केवल उत्पादन

तक ही सीमित नहीं रहती वरन् उपभोग को भी अपनी गिरफ्त में लेती है। दिन भर के श्रम से थका–हारा मनुष्य घर लौटकर अपनी बोरियत दूर करने के लिए टेलीविजन के चैनल बदलने के सिवा कुछ नहीं कर पाता।

आज उपभोक्ता संस्कृति के जिस मकड़जाल में हम फंस चुके हैं, उसमें प्रौद्योगिकी मूलभूत मानवीय जरूरतों को पूरा करने तक सीमित नहीं है, हाँ आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। आधुनिक प्रौद्योगिकी का प्रयोग पहले नये–नये आविष्कार करने में किया जाता है और फिर विज्ञापन तकनीकों से उनकी मांग पैदा की जाती है। आधुनिक प्रौद्योगिकी के लिए मनुष्य उपभोक्ता मात्र है। प्रौद्योगिकी आज मनुष्य के सामने यह मिथ रचने में लगी है, उसका सच ही सबसे बड़ा सच है। टेलीविजन के जरिये बाजार मूल्यों को थोपा जा रहा है। होना तो यह चाहिए था कि प्रौद्योगिकी का उपयोग आदमी की जरूरतों को कम समय में श्रम की बचत के साथ पूरा किया जाये जिससे वह बचे हुए समय और श्रम का उपयोग कला संस्कृति और अन्य प्रकार की सर्जनाओं के विकास में कर सके। प्रौद्योगिकी का उपयोग किन उद्देश्यों के लिए हो, वस्तुतः यह सवाल प्रौद्योगिकी के नियंत्रण से जुड़ा हुआ है। सही नियंत्रण द्वारा इसे मानवीय बनाया जा सकता है।

जब हम इस दृष्टि से आधुनिक प्रौद्योगिकी पर विचार करते हैं कि उससे किस तरह की संस्कृति का प्रसार हो रहा है और वह मनुष्य का कैसा प्रारूप प्रतिष्ठित कर रही है तो समस्या अपने जटिलतम रूप में हमारे सामने आती है। आधुनिक तकनीक जिस निर्वैयक्तिक, वस्तुपरक कार्य प्रणाली पर टिकी हुई है, वह यांत्रिक संस्कृति को प्रतिष्ठा देने वाली है। इसमें मानव बुद्धि को ही मानव–व्यवहार का नियंता स्वीकार किया जाता है। मनुष्य को यंत्रों द्वारा आरोपित शर्तों के अनुसार जीवन जीना पड़ता है जिसके मूल्य उपयोगिता और मितव्ययिता है। मनुष्य–जीवन की सार्थकता इसी दायरे तक सीमित रह जाती है। यांत्रिक जीवन एक यंत्र–परतंत्र, एक–आयामी मनुष्य को जन्म देता है। इसका परिणाम स्वत्व के उन्मूलन तथा अपने समेत सभी मनुष्यों को जिंस मात्र समझने में होता है। व्यक्ति मात्र एक अंक, सामूहिक व्यवस्था का पुर्जा मात्र बनकर रह जाता है। एकरूपता की यह अंधी दौड़ बड़ी निर्ममता के साथ वरण की स्वतंत्रता और चयन के अधिकार को खत्म करती जाती है।

ऊपर जिन समस्याओं का जिक्र हम कर आये हैं वे सभी गंभीर विचार–विमर्श की अपेक्षा रखती हैं। यदि हम चाहते हैं कि यंत्र–मानव के स्थान पर समग्र मानव का आविर्भाव हो, एकरूपता के बुलडोजर के नीचे संस्कृतियों का विनाश न हो, प्रौद्योगिकी मानवीय मूल्यों को स्थापित करने का साधन बने न कि उनको विकृत करने का, तो हम एक वैकल्पिक मानवीय प्रौद्योगिकी की जरूरत से इनकार नहीं कर सकते। पर्यावरण आंदोलन आधुनिक प्रौद्योगिकी की संपूर्ण आलोचना नहीं हो सकता। हमें और गहरे में जाकर पूछने की जरूरत है कि क्या मानवीय प्रौद्योगिकी लाने का रचनात्मक कार्यक्रम नये समाज की रचना से अलग करके देखा जा सकता है ? इसके लिए मात्र आधुनिक प्रौद्योगिकी नहीं अपितु उस पर आधारित संपूर्ण समाज का आलोचनात्मक विश्लेषण जरूरी है। हम पीछे वापस तो नहीं जा सकते तो फिर क्यों न आगे बढ़ने का विवेकपूर्ण रास्ता चुनें ?

(3)

एक वैकल्पिक मानवीय प्रौद्योगिकी की संभावना और स्वरूप की खोज आधुनिक समाज में प्रौद्योगिकी की समस्याग्रस्त (जिसका कि जिक्र हम ऊपर कर आये हैं) भूमिका के गहन समीक्षात्मक विश्लेषण की अपेक्षा रखता है। इस विषय पर समकालीन समाज विचारकों में गहरा मतभेद भी दिखाई देता है। यहाँ हम उन मुख्य विचार, दृष्टियों की समीक्षा करने का प्रयास करेंगे जो कतिपय महान चिंताओं के वैचारिक मंथन से उभर कर सामने आये हैं।

प्रौद्योगिकीय निर्णयवाद

इसके अनुसार प्रौद्योगिकी अपने स्वायत्त कार्यकारी तर्क से परिचालित होती है जिसे समाज से निरपेक्ष रखकर समझा जा सकता है। उसकी सामाजिकता उन सामाजिक उद्देश्यों तक सीमित होती है जिनके लिए उसका उपयोग किया जाता है। विज्ञान और गणित के समान ही प्रौद्योगिकी आंतरिक रूप से समाज से स्वतंत्र होती है लेकिन इसके सामाजिक प्रभाव तुरंत और शक्तिशाली होते हैं। यह समाज परिवर्तन की दिशा निर्धारित करने वाला एक गैर–सामाजिक तत्त्व है जिस पर समाज का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह विचार व्यापारियों और सरकारों के बीच तो प्रचलित है ही, बड़े–बड़े चिंतकों जैसे–मैक्स बेवर, हाइडेगर, मैकलुहान और एलल के सिद्धांतों से भी कुछ मेल खाता है। हाइडेगर के विचारों की चर्चा कुछ

विस्तार से हम आगे करेंगे। यहाँ उन दो मुख्य स्थापनाओं का उल्लेख करना जरूरी है जिन पर प्रौद्योगिकीय निर्णयवाद का ढाँचा टिका है –

1. प्रौद्योगिकी का विकास एक सीधे, निश्चित मार्ग का अनुसरण करता है। यह यात्रा निम्न से उच्च की ओर होती है तथा आवश्यक चरणों के एकमात्र अनुक्रम से संचालित होती है।

2. सामाजिक संस्थायें प्रौद्योगिकीय आधार के अनुसार अपने को अनुकूलित करने के लिए बाध्य हैं। निश्चय ही यह स्थापना मार्क्स के विचारों की एक विशिष्ट व्याख्या के काफी करीब है, यद्यपि यह उनके साथ न्याय नहीं करती है।

इस दृष्टि से प्रौद्योगिकी आधुनिक समाज का एक संदर्भ–हीन स्वायत्त, स्व–उत्पादक और अनोखा आधार है। प्रौधोगिकी और उनसे जुड़ा संस्थागत ढाँचा सार्वभौमिक है। अतः आधुनिक समाज का एक ही स्वरूप और मार्ग संभव है, भले ही सामंतवाद के विविध ऐतिहासिक रूप रहे हों।

प्रौद्योगिकीय निर्माणवाद

यह दृष्टि विज्ञान के समाजशास्त्रीय अध्ययन का परिणाम है। इसके अनुसार वैज्ञानिक सिद्धांतों को भी गैर–वैज्ञानिक विश्वासों के समान ही, उनके सत्य और असत्य को परे रखकर, समाजशास्त्रीय अध्ययन का विषय बनाया जाना चाहिए। इसके अनुसार सिद्धांतों और प्रौद्योगिकी का निर्धारण वैज्ञानिक या तकनीकी मानदण्डों के आधार पर नहीं होता। तात्पर्य है कि किसी भी समस्या के सामान्य तथा तकनीकी रूप से कई हल संभव होते हैं जिनसे किसी एक का चुनाव सामाजिक कर्त्ता द्वारा किया जाता है। साथ ही समस्या की परिभाषा भी हल खोजने के दौरान बहुत बार बदल जाती है।

दो समाजशास्त्रियों ट्रेवर पिंच और वाइबे बिजकर ने साइकिल निर्माण के इतिहास का अध्ययन करके सफलतापूर्वक उपर्युक्त धारणा को उचित ठहराया है। साइकिल के वर्तमान स्वरूप के चयन से पूर्व काफी समय तक अधिक रफ्तार देने वाली ऊँचे अगले पहिये वाले माडल और कम रफ्तार लेकिन सुरक्षित बराबर पहिये वाले माडल के बीच द्वंद्व बना रहा। दोनों ही संभावित विकल्प अलग–अलग आवश्यकताओं को प्राथमिकता देने वाले थे। ये दोनों विकल्प अपने निर्माण में न एक–दूसरे से निःसृत हुए थे और न निर्भर थे।

अतः निर्माणवादी दृष्टि से विचार करने पर निर्णयवादियों की यह मान्यता उचित नहीं जान पड़ती कि प्रौद्योगिकी की सफलता मात्र प्रकार्यात्मक

कारणों से होता है। निर्णयवादी दृष्टि की अनिवार्यता भविष्य को अतीत में ले जाकर जहाँ एक ओर अतीत की गलत समझ पैदा करती है, वहीं एक वैकल्पिक भविष्य की संभावना से इनकार कर देती है। निर्माणवादी दृष्टि में भविष्य निर्माण के दरवाजे खुले हुए हैं।

प्रौद्योगिकीय अनिर्णयवाद

निर्माणवाद के उपर्युक्त विवेचन से निर्णयवाद की एक रेखीय प्रगति की अवधारणा ध्वस्त हो गई जान पड़ती है। निर्णयवाद की दूसरी स्थापना प्रौद्योगिकी आधार द्वारा सामाजिक संस्थाओं का निर्धारण ऐतिहासिक घटनाओं द्वारा प्रश्नांकित हो गई है। इंग्लैंड में 1844 में पास हुआ फैक्टरी बिल प्रौद्योगिकीय निर्णयवाद के खिलाफ निर्णयात्मक विरोध का परिचायक है। इससे प्रौद्योगिकी व्यवस्था के लचीलेपन का पता चलता है जो विभिन्न सामाजिक जरूरतों के अनुरूप अपने को ढालने में समक्ष होता है। अतः हम कह सकते हैं कि प्रौद्योगिकी भी एक निर्भर सामाजिक कारक है जिसका महत्त्व बढ़ता जा रहा है किंतु यह इतिहास का नियंता नहीं है। प्रौद्योगिकी का विकास एकरेखीय न होकर विभिन्न दिशाओं में संभव है और विभिन्न मार्गों से उच्च अवस्था तक जा सकता है। यह तकनीकी और सामाजिक दोनों कारकों से प्रभावित होता है, अतः समाज का निर्धारक नहीं हो सकता है।

इस दृष्टि से विचार करने पर प्रौद्योगिकी की वैकल्पिक संभावनाओं के लिए मार्ग खुल जाता है। कोई भी प्रौद्योगिकी अंतिम नहीं मानी जा सकती। कौन–सी प्रौद्योगिकी अपनाई जाये, यह विमर्श सारे समाज के संघर्ष का विषय बन जाता है। अब हम प्रौद्योगिकी को तकनीकी उपायों का पुंज या तर्कपूर्ण तरीकों का गठजोड़ मात्र नहीं कह सकते। हमें प्रौद्योगिकी के प्रकार्यात्मक पक्ष के मुकाबले सामाजिक पक्ष पर अधिक ध्यान देना होगा। एक सामा!जिक वस्तु की तरह ही (उसके तकनीकी प्रकार्य के साथ–साथ) उसके अभ्यर्थ की व्याख्या की जानी चाहिए।

तकनीकी वस्तुओं के दो आयाम महत्त्वपूर्ण हैं–पहला है उनका सामाजिक कार्य और दूसरा है, उनका सांस्कृतिक क्षितिज। ऊपर दिये गए साइकिल निर्माण के उदाहरण से सामाजिक अर्थ की भूमिका को ठीक से समझा जा सकता है। साइकिल की डिजाइन क्या है, इस बात से तय होना था कि उसे खिलाड़ी का खिलौना समझा जाय या यातायात का साधन। किसी भी तकनीकी वस्तु की सामाजिक भूमिका क्या है और किस प्रकार की

जीवन शैली वह संभावित करती है, को समझे बिना प्रौद्योगिकी की समझ पूरी नहीं होती। अलग–अलग सामाजिक समूहों द्वारा तकनीकी वस्तुओं की अलग–अलग ढंग से व्याख्या की जानी उनके स्वरूप के पुनर्निर्माण को प्रभावित करती है। अतः हम तकनीकी विकास को विभिन्न समूहों की सामाजिक स्थिति से अलग करके नहीं समझ सकते, जो उससे जुड़े होते हैं।

तकनीकी विकास का दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू वह सांस्कृतिक क्षितिज है जो भले ही सामान्यतया आंखों से ओझल रहता हो, किंतु उसे दूर तक प्रभावित करता है। सांस्कृतिक मूल्यों से संगत होकर ही कोई प्रौद्योगिकी सामाजिक प्रभुत्व प्राप्त कर सकती है। तर्कबुद्धिपरकता आधुनिकता का चरम सांस्कृतिक मूल्य है और प्रौद्योगिकी ही वह कुंजी है जो इसके आधुनिक प्रभुत्व को प्रतिष्ठापित करती है। यहीं हमें इस प्रश्न का उत्तर भी मिल जाता है कि क्यों स्तरीकरण एक प्रौद्योगिकी समाज की अनिवार्यता–सा लगता है। हरबर्ट मारकुस ने मैक्स वेबर की आलोचना में यह दर्शाया है कि किस प्रकार तर्कबुद्धिपरकता का प्रत्यय प्रबंधन द्वारा मजदूरों पर नियंत्रण को प्रौद्योगिकी द्वारा प्रकृति पर नियंत्रण के साथ गड्ड़मगड्ड़ कर देता है। मनुष्य द्वारा प्रकृति पर नियंत्रण की खोज जातिगत है जबकि प्रबंधन एक विशेष सामाजिक परिस्थिति, पूंजीवादी वेतन प्रणाली, की देन है। चूँकि मजदूरों का कोई तात्कालिक हित फर्म की आय से आवश्यक रूप से जुड़ा नहीं होता इसलिए उन पर नियंत्रण का प्रश्न इस संदर्भ में उच्च प्राथमिकता वाला बन जाता है। मशीनीकरण के जरिये नियंत्रण का कुछ भाग सुपरवाइजरों के हाथ से मशीनों को दे दिया जाता है। इस तरह मशीन की संरचना भी समाज सापेक्ष बन जाती है और उसमें अंतर्निहित तकनीकी बुद्धिपरकता सार्वभौमिक नहीं अपितु पूंजीवाद की एक विशेषता मात्र दिखाई देती है।

हैरी बेवरमैन और डेविड नाबेल ने यह दर्शाया है कि एसेंबली लाइन की तकनीकी रूपरेखा किस तरह काम को अकुशल टुकड़ों में बांटकर प्रबंधन के परंपरागत उद्देश्यों की पूर्ति करता है। तकनीक द्वारा मजदूरों पर लादा गया अनुशासन उत्पादकता और लाभ दोनों ही बढ़ा देती है। किंतु एसेंबली लाइन द्वारा नियंत्रण की यह तकनीकी एक खास सामाजिक संदर्भ में ही प्रगति की निशानी मानी जा सकती है। मजदूरों की सहकारी संस्थाओं पर आधारित अर्थव्यवस्था में जहाँ मजदूरों पर अनुशासन ऊपर से नहीं लादा जाता, उपर्युक्त तकनीक बेमानी होगी। वहाँ उत्पादकता बढ़ाने के लिए दूसरे प्रकार की प्रौद्योगिकी बुद्धिपरकता की आवश्यकता होगी।

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि तकनीकी बुद्धिपरकता केवल एक विश्वास या विचारधारा नहीं है बल्कि यह मशीनों की संरचना में भी प्रभावी रूप से निहित है। मशीन की डिजाइन में वे सामाजिक घटक प्रतिबिंबित होते हैं, जो बुद्धिपरकता की स्थापित धारणा से मेल खाते हैं। हमारा यह विश्लेषण परंपरागत मार्क्सवादी आलोचना से अधिक गहरे में जाकर तकनीकी आधार को अपनी समालोचना का विषय बनाता है। यहाँ पूंजीवाद और समाजवाद का अंतर मिट जाता है और एक दूसरे प्रकार के विभेद से हमारा सामना होता है, जो उन दो समाजों के बीच है, जहाँ शक्ति सामाजिक गतिविधियों की तकनीकी मध्यस्थता पर आधारित होती है और जहाँ यह तकनीकी डिजाइन और नियंत्रण के जनतंत्रीकरण पर आधारित होती है।

अतः हम कह सकते हैं कि सामाजिक अभ्यर्थ और प्रकार्यात्मक युक्तिसंगतता आपस में जटिल रूप से गुंथे हुए प्रौद्योगिकी के दो आयाम हैं। इन्हें तात्त्विक रूप से यह कहकर अलगाया नहीं जा सकता कि अर्थबोध तो दर्शक के मन में होता है और युक्तिसंगतता तकनीकी वस्तु में। वास्तव में एक ही तकनीकी वस्तु के दो पहलू हैं जो अलग–अलग विशिष्ट सन्दर्भों में प्रकट होते हैं।

प्रकार्यात्मक युक्तिसंगतता सामान्य, वैज्ञानिक–तकनीकी बुद्धिपरकता के समान वस्तुओं को उनके मौलिक संदर्भों से अलग कर उन्हें सैद्धांतिक व्यवस्था का अंग बना देती है। किंतु ये संस्थायें जैसे प्रयोगशालायें अपने आप में एक सामाजिक संदर्भ का अंग होती हैं जोकि विभिन्न एजेन्सियों और शक्ति केंद्रों से जुड़ी होती हैं। किसी शुद्ध तार्किकता का दावा तभी किया जा सकता है जब हम नये संदर्भों के पीछे छिपे सामाजिक हितों को न पहचानें। विभिन्न संभावनाओं के बीच में किसी प्रौद्योगिकी के चयन की प्रक्रिया उस सामाजिक संहिता से निर्धारित होता है, जो एक सांस्कृतिक क्षितिज से निःसृत होती है। चयनित होकर वही प्रौद्योगिकी उन्हीं सांस्कृतिक पूर्व मान्यताओं को वैधता प्रदान करती है जिन्होंने उसके चयन से अपनी भूमिका निभाई थी। इस तरह निरपेक्ष–सी लगने वाली प्रकार्यात्मक बुद्धिपरकता सांस्कृतिक प्रभुत्व को बढ़ाने का कार्य करती है।

जैसा कि फूकों ने कहा – "शोषण के आधुनिक तरीके झूठी विचारधाराओं पर उतने आधारित नहीं हैं, जितने कि विशिष्ट तकनीकी

'सत्यों' पर, जो प्रभुत्व का आधार तैयार करते हैं और उसका पुनरुत्पादन करते हैं।'' जब तक इस 'सत्य' के चयन की प्रक्रिया छिपी रहती है तकनीकी रूप से वैध समाज–व्यवस्था की निर्णयवादी छवि बरकरार रहती है। प्रौद्योगिकी की संदर्भयुक्त समालोचना द्वारा हम उन राजनीतिक–सांस्कृतिक क्षितिज को सामने ला सकते हैं जिसकी प्रौद्योगिकी के चयन में भूमिका रही है। इस तरह हम तकनीकी आवश्यकता के भ्रम को दूर कर सकते हैं और प्रौद्योगिकी के चयन की सापेक्षता उजागर कर सकते हैं।

(4)

प्रौद्योगिकी के उपर्युक्त सैद्धांतिक विश्लेषण से उसमें सुधार की संभावनायें स्पष्ट दिखाई देती हैं। इससे पहले कि हम इसकी दिशा के बारे में विचार करें, हमें हाइडेगर द्वारा प्रौद्योगिकी को लेकर उठाई गई सैद्धांतिक आपत्तियों पर विचार का लेना उचित होगा। हाइडेगर प्रौद्योगिकी के सारतत्त्व और प्रौद्योगिकी में अंतर करते हैं और तकनीकी समाजों की बीमारियों का स्रोत समाज के स्थान पर पश्चिमी तत्त्वज्ञान में पाते हैं। आधुनिक समाज तो सत् पर नियंत्रण करने की पश्चिमी तत्त्वमीमांसीय परंपरा का प्रतिफलन मात्र है जो प्लेटो से ही प्रारंभ हो गई थी। प्रौद्योगिकी साधन मात्र नहीं है अपितु सत् के प्रकटीकरण का एक आयाम है। लेकिन आधुनिक प्रौद्योगिकी इस अर्थ में पहले की प्रौद्योगिकी से भिन्न है कि अब वह चुनौती देने वाली बन गई है जबकि पहले केवल प्रकटीकरण (Bringing forth) थी। आधुनिक प्रौद्योगिकी प्रकृति को आदेश देती है और उस पर नियंत्रण करती है। इस तरह प्रकृति Standing reserve का दर्जा पा जाती है और मनुष्य मानवीय संसाधन (Human resource) बन जाता है। यह जितना प्रकट करती है उतना ही छिपाती भी है। हाइडेगर के अनुसार आधुनिक प्रौद्योगिकी का सारतत्त्व है जो अपने में तकनीकी तत्त्व नहीं है। लेकिन यह मनुष्य का बंद भाग्य नहीं है। चूँकि आज जब हम पीछे नहीं जा सकते, इस खतरे को समझने की जरूरत है। तभी हम प्रौद्योगिकी के सारतत्त्व द्वारा दावा (Claim) किये जाने से बच सकते हैं और उसके साथ मुक्त संबंध बना सकते हैं।

हाइडेगर की सफलता इसमें है कि वे हमें प्रौद्योगिकी के बारे में पूछे जाने वाले प्रश्नों के ढाँचे को ही प्रश्नांकित कर देते हैं और हमें प्रौद्योगिकी के बारे में नये ढंग से विचार करने के लिए प्रेरित करते हैं। लेकिन जैसा कि

बर्नस्टीन ने रेखांकित किया है कि हाइडेगर हमें खतरे से निकलने के लिए जो एक मात्र विकल्प सुझाते हैं वह पायोसिस का है, वे फ्रोनेसिस और प्रेसिस की संभावनाओं को छोड़ देते हैं। इसका परिणाम मानवीय कर्त्तृत्व (Human agency) को कम करके आंकने में होता है जिस कारण हम विभिन्न प्रकार के तकनीकी विकास में अंतर करना भूल जाते हैं। वे बिजली और परमाणु बम, कृषि यांत्रिकी और कन्सेन्ट्रेशन कैंप को प्रौद्योगिकी के एक ही सारतत्त्व की अभिव्यक्ति मानते हैं। पीछे जाने की बात वे नहीं करते और बेहतर तकनीकी के लिए कोई संभावना नहीं देखते, तो ऐसे में जिसे वे प्रौद्योगिकी के साथ एक मुक्त संबंध बनाना कहते हैं, वह मात्र एक अभिवृत्तीय (attitudnal) परिवर्तन रह जाता है। जबकि जिसे वे आधुनिक प्रौद्योगिकी की विशिष्टता–प्रकृति की शक्तियों का आदेशात्मक संचय करना मानते हैं, उससे तो एक वैकल्पिक प्रौद्योगिकी की संभावना बनती है जो प्रकृति को दोहन प्रामेथियम ढंग से न करे। शायद हाइडेगर की सीमा उनका अफलातूनी (Platonic) रुख है जो कर्म की उच्चतम संभावना चिंतन में देखता है। अरस्तू की 'एथिक्स' के गहरे प्रशंसक होने के बावजूद वे 'प्रेसिस' को 'प्रोपसिस' से या 'फ्रोनेसिस को टेक्ने' से अलग करने वाले तत्त्व को नहीं देख पाते जिसे हन्ना अरेंट ने मनुष्य की बहुलतावादी नियति कहा है। उनके अनुसार हमें Labour, work और action में भेद करना चाहिए तभी हम action अर्थात् Praxis को ठीक से समझ सकेंगे। आधुनिक तकनीकी समाज Praxis को भूलता जा रहा है और एक मजदूरी करने वाले समाज में बदलता जा रहा है। लेकिन Praxis की संभावना कभी खत्म नहीं हो सकती क्योंकि उसकी जड़े मानवीय बहुलता में छिपी हैं। दूसरों के साथ मिलकर पहल करने की इस संभावना को पुनः प्राप्त करने की जरूरत है। तभी हम आधुनिक प्रौद्योगिकी के खतरों से निपट पायेंगे और उसमें सुधार कर सकेंगे। रक्षा की शक्ति सामूहिक कर्म में है, न कि काव्यात्मक घर में जैसा कि हाइडेगर ने सोचा था।

इससे पहले कि हम सामूहिक कार्य की रूपरेखा पर विचार करें, हमें यह भी समझना होगा कि यदि आधुनिक प्रौद्योगिकी मनुष्य की तात्त्विक नियति नहीं है तो उसके अस्तित्व में आने की सामाजिक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या है। क्या आधुनिक प्रौद्योगिकी परंपरागत प्रौद्योगिकी से पूरी तरह भिन्न है या उसका ही एक विशिष्ट शैली में विकास ? इसके पीछे सक्रिय सामाजिक शक्तियों की पहचान भी जरूरी है।

आधुनिक प्रौद्योगिकी पुरानी प्रौद्योगिकी से इस मायने में भिन्न है कि इसमें कुछ बातों को केन्द्रीय महत्त्व प्रदान किया जाता है जो पहले की प्रौद्योगिकी का भी अंग होते हुए इतनी महत्त्वपूर्ण न थी। वस्तुओं का कच्चे माल में बदल जाना, नाप, तोल की सूक्ष्म प्रणाली, कुछ मनुष्यों पर दूसरे मनुष्यों द्वारा तकनीकी नियंत्रण, बड़े पैमाने पर योजनाबद्ध ढंग से कार्य आदि पहले की प्रौद्योगिकी के अंग थे पर उसको परिभाषित नहीं करते थे। प्रौद्योगिकी एक खास ढंग की जीवन शैली से जुड़ी हुई थी। तकनीकी जिंदगी जीवन शैली के चयन का हिस्सा मात्र थी। पूंजीवादी अकुशल कार्यशीलता की सफलता ने इन मानवीय तत्त्वों को केन्द्र से हटाकर परिधि पर ला दिया। कई ऐतिहासिक अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि पुराने तरीके प्रौद्योगिकी के सारतत्व से उतने असंगत नहीं थे जितने कि पूंजीवादी अर्थशास्त्र से। वैकल्पिक संदर्भ में तकनीकी विकास की वैकल्पिक रूपरेखा के अंतर्गत परंपरागत तकनीकी मूल्यों और व्यवस्था–रूपों को पुनर्जीवित भी किया जा सकता है। इसी बात को हरबर्ट मारकुस भी कहता है कि एक वर्गीय समाज में प्रचलित यांत्रिक तर्क से भिन्न यांत्रिक तर्क के अन्य रूप भी संभव हैं। एक भिन्न प्रकार के यांत्रिक तर्क से एक नये प्रकार के विज्ञान और प्रौद्योगिकी का जन्म होगा जो आधुनिक प्रौद्योगिकी की कमियों से मुक्त होगी।

फीनबर्ग ने जहाँ मारकुस की आलोचना इस बात को लेकर की कि वे प्रकृति के वैज्ञानिक प्रत्यय और प्रकृति के जीवन अनुभव को एक समझने की भूल करने के कारण प्रौद्योगिकी की दिशा में परिवर्तन को प्रकृति के नये वैज्ञानिक प्रत्यय के साथ जोड़कर देखने को बाध्य है, जो कि एक यूटोपियन विचार है, वहीं उसने मारकुस द्वारा नयी प्रौद्योगिकी के लिए एक सौंदर्यशास्त्रीय मानदण्ड की वकालत में यथार्थ भविष्योन्मुखी प्रजातंत्र के विचार की झलक भी देखी।

हैबरमास ने भी मारकुस के इस विचार को मानने से इनकार कर दिया कि आधुनिक विज्ञान की प्रकृति के प्रति वस्तुपरकता से मुक्ति संभव है। हैबरमास के अनुसार यांत्रिक कर्म जिसमें तकनीकी कर्म समाहित हैं, की अपनी विशेषतायें हैं, जो जीवन के कुछ पक्षों में उचित हैं और अन्य पक्षों में अनुचित जान पड़ती हैं। अपने उचित क्षेत्र में प्रौद्योगिकी मूल्य निरपेक्ष होती है किंतु उसके बाहर इसके तर्क का प्रयोग बहुत तरह की सामाजिक

बीमारियाँ पैदा करता है, जो आधुनिक समाज की मुख्य समस्या है। लेकिन हैबरमास मारकुस को पूरी तरह निरस्त नहीं करता अपितु मारकुस की एक आयामी मनुष्य की अवधारणा को प्रौद्योगिकी की मजबूत आलोचना स्वीकार करता है। इसी आधार पर उसने 'तकनीकी ढंग की सोच और व्यवहार' के अति विस्तार के विचार को जन्म दिया। उनके अनुसार तकनीकी क्षेत्र को सीमित करने की जरूरत है जिससे कि संचार (Communication) को सामाजिक जीवन में उचित स्थान प्राप्त हो सके।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह तो स्पष्ट है कि आधुनिक प्रौद्योगिकी मनुष्य की कोई तात्त्विक नियति नहीं है और उसमें सुधार की संभावनायें हैं किंतु क्या कारण है कि सुधार की आवश्यकता महसूस करने के बावजूद सुधार की संभावनायें प्रतिफलित नहीं हो पा रही हैं ? निश्चय ही यह प्रश्न हमें एक ओर उस शक्ति–संरचना को चिन्हित करने की जरूरत पर बल देता है जिसके आधार पर आधुनिक प्रौद्योगिकी अपना वर्चस्व प्राप्त करती है, वहीं दूसरी ओर संघर्ष के उन तरीकों की पहचान भी जरूरी लगती है जो विकल्प की खोज में लगे हैं।

(5)

ऐतिहासिक रूप में आधुनिक प्रौद्योगिकी का विकास पूंजीवादी वातावरण में हुआ है जहाँ वह पूंजीपति के एकमात्र उद्‌देश्य–अधिकतम लाभ से संचालित होती है। उद्योग की स्वतंत्रता के नाम पर सभी प्रकार की परंपरागत सामाजिक जिम्मेदारियों से पल्ला झाड़ लिया जाता है। इसके चलते ऐच्छिक उद्‌देश्य और अनैच्छिक परिणामों के बीच भारी भेद दिखाई पड़ता है, जिसे नजरअंदाज कर दिया जाता है। इस तरह आधुनिक प्रौद्योगिकी का संकीर्ण फोकस एक वर्ग विशेष का प्रभुत्व कायम रखने वाला सशक्त औजार बन जाता है। तकनीकी डिजाइन का संदर्भहीन विकास प्रौद्योगिकी प्रभुत्व को जन्म देता है, जिसे चुनौती देना आवश्यक है।

आधुनिक प्रौद्योगिकी के प्रभुत्व को चुनौती देने के लिए दो विश्वासों से निजात पाना भी जरूरी है। पहली तकनीकी आवश्यकता ही विकास का मार्ग तय करती है और दूसरा, कार्य कुशलता का अनुसरण ही उस मार्ग की पहचान कराता है। ये दोनों ही विश्वास न केवल झूठे हैं अपितु एक ऐसी विचारधारा की तरह कार्य करते हैं, जो एक तकनीकी समाज की संस्थाओं में भागीदारी को नियंत्रित करने का कार्य करती हैं। हम एक ऐसा प्रौद्योगिकी

समाज बना सकते हैं जो मूल्यों के एक व्यापक प्रारूप को समर्थन देता हो। प्रजातंत्र इन मूल्यों में एक केन्द्रीय मूल्य है। हमारा उद्देश्य भी प्रौद्योगिकी का प्रजातंत्रीकरण है।

प्रश्न उठता है कि प्रौद्योगिकी के प्रजातंत्रीकरण से क्या तात्पर्य है ? यह समस्या मुख्यतया कानूनी अधिकारों की उतनी नहीं है जितनी की पहल करने और भागीदारी करने की है। जरूरत इस बात की है कि आधुनिक प्रौद्योगिकी के प्रभुत्व से संघर्ष के दौरान हुए अनुभवों के आधार पर ही कानून के प्रारूप तय किये जायें। आज यह संघर्ष कई रूपों में हमारे सामने आ रहा है। कहीं यह जन्म से पूर्व लिंग निर्धारण की तकनीक के विरोध में, तो कहीं नर्मदा बांध की ऊँचाई बढ़ाने के विरोध में सामने आया है। विश्वव्यापी पर्यावरण संरक्षण आंदोलन से तो हम सभी परिचित हैं। ये सारे संघर्ष उस यांत्रिक तर्क को चुनौति देते हैं जिस पर आधुनिक प्रौधोगिकी टिकी हुई है।

एक मानवीय प्रौद्योगिकी जो अधिकतम लाभ और शक्ति के मूल्यों से परिचालित न हो, एक भिन्न प्रकार के यांत्रिक तर्क की अपेक्षा करती है, जो मानवीय और प्राकृतिक संदर्भें के प्रति जिम्मेदारी पर आधारित हो। इसे प्रजातंत्रात्मक यांत्रिकीकरण की संज्ञा दी जा सकती है। इस तरह का तकनीकी विकास प्रभुत्वशाली प्रौद्योगिकी का विरोध करके ही संभव है। यह आधुनिक प्रौद्योगिकी के विजय अभियान और श्रेष्ठता के दावों तथा हाइडेगर के निराशावादी निष्कर्ष कि 'एक ईश्वर ही हमें प्रौद्योगिकी के निहिलिज्म से बचा सकता है' दोनों का विकल्प प्रस्तुत करता है।

उपर्युक्त विकल्प निश्चित रूप से पुराने समाजवादी विकल्प से प्रेरणा ग्रहण करता है जिसमें मजदूरों की जिंदगी और गरिमा के व्यापक संदर्भों में प्रौद्योगिकी की दिशा निर्धारण करने का लक्ष्य था जिसकी कि आधुनिक प्रौद्यीगिकी अवहेलना करती है। आज हम इसी प्रकार के तर्क का उपयोग और भी व्यापक सामाजिक संदर्भ में विभिन्न संस्थागत स्थितियों में कर सकते हैं और वैकल्पिक प्रौद्योगिकी के लिए संघर्ष को व्यापक धरातल प्रदान कर सकते हैं। यहीं प्रश्न उठाना भी समीचीन होगा कि क्या कारण है कि लंबे संघर्ष के बावजूद तकनीकी क्षेत्र में अभी एक प्रजातंत्र को प्रवेश नहीं मिल पा रहा है। क्या यह इस कारण है कि प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में प्रजातंत्र का प्रवेश वर्जित है याकि प्रौद्योगिकी का प्रयोग प्रजातंत्र के प्रवेश को रोकने

के लिए किया जा रहा है ? दूसरा उत्तर ही ज्यादा सही जान पड़ता है। प्रौद्योगिकी के प्रयोग से एक से अधिक प्रकार की सभ्यताओं के प्रारूप रचे जा सकते हैं। जरूरत है कि हम एक अधिक प्रजातंत्रात्मक समाज के लिए संघर्ष करें क्योंकि आधुनिक प्रौद्योगिकी के खिलाफ संघर्ष को नये समाज की रचना से अलग करके नहीं देखा जा सकता।

53, अशरफ टोला
हरदोई, उत्तर-प्रदेश

सहयोगी ग्रन्थों की सूची –

1. *बोर्जमैन, एल्बर्ट (1984), टेक्नोलाजी एन्ड द करेक्टर आफ कन्टेमपोरेरी लाइफ, यूनीवर्सिटी आफ शिकागो प्रेस, शिकागो*
2. *एलल, जॅक्युअस,(1964),द टेक्नोलाजिकल सोसाइटी, जे बिलकिन्सन (अनु.) विन्टेज, न्यूयार्क*
3. *फीनबर्ग, एन्ड्रयू (1996), मारकूजे एण्ड हैबरमास : टू क्रिटीक्स ऑफ टेक्नोलाजी, इन्क्वाइरी–39*
4. *फीनवर्ग (1999), क्वेश्चनिंग टेक्नोलाजी,रूटलेज, लन्दन/न्यूयार्क*
5. *हैबरमास, जुर्गन, (1970), टेक्नोलाजी एन्ड साइन्स एज आईडियोलाजी, इन टुवर्डस ए रेशनल सोसाइटी, जे. शापिरो (अनु.) बीकन प्रेस, बोस्टन*
6. *हाइडेगर, मार्टिन,(1977), द क्वेश्चन कन्सर्निंग टेक्नोलाजी, डब्लू लोटिट (अनु.) हारपर एन्ड रो,न्यूयार्क*
7. *मारकूजे, हरबर्ट,(1964), वन डाइमेन्शनल मैन, बीकन प्रेस, बोस्टन*
8. *मारकूजे (1969), एन एस्से आन लिबरेशन, बीकन प्रेस, बोस्टन*
9. *पीटर–पाल वरवीक, (2005), व्हाट थिंग्स डू: फिलासोफिकल रिफ्लेक्शन आन टेक्नोलाजी,एजेन्सी एन्ड डिजाइन, आर.पी. क्रीज (अनु.), पेन्सिलवानिया स्टेट यूनीवर्मिटी प्रेस, पेन्सिलवानिया*
10. *टामस क्रोथ, (1998), टेक्नोलाजी एन्ड रैशनैलिटी, एशगेट पब्लिशिंग लि., एल्डरशाट*

बीसवीं शती के कुछ विचारक और 'मनुष्य'

राजेन्द्र स्वरूप भटनागर

इस लेख में भारत के बीसवीं शती के कुछ विचारकों के मनुष्य विषयक सोच की दिशा का एक संक्षिप्त विवरण देने का प्रयास किया गया है। यह विवरण इण्डियन फिलॉसोफिकल कांग्रेश में आध्यक्षीय मंच से दिये गये व्याख्यानों पर आधारित है। मैं प्रो. एस.पी. दूबे का ऋणी हूँ जिन्होंने इन व्याख्यानों को फैसेट्स ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी शीर्षक से चार खण्डों में सम्पादित किया है। यह लेख केवल एक बानगी का रूप रखता है और अत्यन्त संक्षिप्त तथा इस अर्थ में अपूर्ण है कि इसमें अन्य स्रोतों से सामग्री नहीं ली गई है।

यह लेख जिन अध्यक्षीय भाषणों पर आधारित है वे तीसरे दशक से नवें दशक तक की अवधि से सम्बन्धित हैं। यद्यपि दार्शनिक चिन्तन में, विचार क्रम समय क्रम का सहवर्ती हो, ऐसा आवश्यक नहीं होता फिर भी ये लेख, एक विशेष समस्या पर, समय के फलक पर एक परिप्रेक्ष्य अवश्य प्रस्तुत करते हैं।

जो विषय इस लेख के लिए चुना गया है, उसको लेकर एक दार्शनिक उलझन उन पक्षों से सम्बन्धित है जो इस सन्दर्भ में प्रयुक्त हुए हैं। सिबजीवन भट्टाचार्य इस ओर इंगित करते हुए कहते हैं कि ''मैं (आई) का निर्देश मेरे लिए एक मानवीय सत्ता (मनुष्य), अथवा एक व्यक्ति, अथवा एक आत्म या एक आत्मा (सोल) के रूप में हो सकता है।''[1] इस सूची में 'अहं', 'विषयी', तथा 'चेतना या चैतन्य' पद को और जोड़ा जा सकता है। यह एक रोचक तथ्य है कि इनमें से विचार के लिए हम जिस पद को चुनेंगे, वह किसी सीमा में पहले ही हमारे विचार की दिशा का निर्देश कर देगा। 'मनुष्य क्या है' अथवा 'आत्म या आत्मा क्या है ?' ये प्रश्न हमें भिन्न दिशाओं में ले जायेंगे। परन्तु बहुधा इन पदों का प्रयोग पर्यायवाची रूप में भी हुआ करता है। इस सन्दर्भ में पं. गंगानाथ झा चेतना (कॉन्श्यसनेस) को, प्रो. पी.टी. राजू विषयी (सब्जेक्ट) को, प्रो. रानाडे आत्मा (स्पिरिट) को, प्रो. ए.सी. मुखर्जी मानवीय व्यक्तित्व (हयूमन पर्सनलिटि) को, प्रो. महादेवन तथा प्रो. ज्ञानेश्वर मिश्रा मनुष्य (मैन) को विषय बनाते हैं।

विचार की प्रक्रिया किसी विषय के सम्बन्ध में किसी विशिष्ट प्रकार की प्रतिक्रिया है। उस अवस्था में विषय का वर्णन मात्र विचार के स्वरूप को पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं करता, यद्यपि विषय के प्रति तटस्थता विचार की पूर्वापेक्षा है। विचार का यह स्वरूप ज्ञाता अथवा विषयी को विषय से न केवल अलग करता है, अपितु, कुछ विचारकों के अनुसार विषयी को विलक्षण प्रतिष्ठा भी प्रदान करता है।

बीसवीं शताब्दी के अनेक भारतीय विचारक, भारतीय दार्शनिक परम्परा में एक प्रमुख धारा का अनुसरण करते हुए, विषयी को विषय की तुलना में एक विलक्षण तथा प्रतिष्ठित रूप में ही देखते हैं। तब भी परम्परा में उपलब्ध विचारों से इन विचारकों के विचार कुछ नवीनता इसलिए प्रतीत होती है क्योंकि इन विचारकों के सम्मुख पूर्वपक्ष नये रूप में उपस्थित हुए हैं। आधुनिक व्यवहारवादी मनोविज्ञान, डार्विन का विकासवाद, भौतिकी में प्राकृतिक पद्धति की प्रतिष्ठा तथा उसका प्रयोगवादी पक्ष और विज्ञान का विजयी अभियान, तथा इनके प्रभाव में दार्शनिक विचारधाराएँ, विशेषकर तर्कयुक्त विश्लेषण एवं यथार्थवादी सोच, पूर्वपक्ष को नवीन रूप में प्रस्तुत होने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि मनुष्य के बाह्य पक्षों अथवा उसकी प्रत्यक्ष भूमिकाओं तक सीमित रहती है, अथवा उसका सम्बन्ध शरीर विज्ञान, नाड़ी तन्त्र आदि के परिमाणात्मक ज्ञान से प्रमुखतया होता है। मनुष्य के आभ्यान्तरिक सत्व के प्रति वह उदासीन होती है।

टी.एम.पी. महादेवन अपने अध्यक्षीय लेख में (1995) कहते हैं कि "मनुष्य के विज्ञान मुख्यतया उसके बाह्य पक्षों से ही सम्बन्धित हैं, उसकी आन्तरिक वास्तविकता से उनका कोई सरोकार नहीं है। इन विज्ञानों की दृष्टि में, मनुष्य शरीर, मनस्, व्यवहार, किसी कबीले का सदस्य, राज्य का नागरिक, वेतन भोगी आदि ही प्रतीत होता है। परन्तु यदि मनुष्य के भीतर प्रवेश करने का प्रयत्न नहीं किया गया, तो उसके वास्तविक रूप को प्राप्त नहीं किया जा सकेगा। तब मनुष्य मात्र साधन ही रह जायगा, उसे साध्य नहीं समझा जायगा, जो वह वास्तव में है।"[2]

यहाँ ध्यातव्य है कि आज विषय रूप में मनुष्य को एक जटिल यन्त्र के रूप में समझने का प्रयास हुआ है, और हो रहा है। परन्तु कुछ विचारकों को यह विचार ही रुचिकर नहीं लगता है। पं. गंगानाथ झा अपने अध्यक्षीय भाषण में (1926) कहते हैं "कम से कम मेरी पुरातन पन्थी प्रवृत्ति उस विचार

के प्रति बगावत करती है, जो हमारी मानसिक प्रक्रियाओं के अध्ययन को तारों तथा नलिकाओं के तन्त्र से अधिक नहीं मानता।''[3]

इसके विरूद्ध इस शताब्दी के आरम्भ में विज्ञान तथा लोकतन्त्र एवं यथार्थवाद के प्रभाव में मानवीय मनस्, चेतना, अथवा आत्मा को वस्तुओं या विषयों की तुलना में विशिष्ट प्रतिष्ठा देना एक भूल समझा गया। जैसा कि प्रसिद्ध है सेमुएल अलेंग्जेन्डर मानते थे कि मनस् विषयों के लोकतन्त्र में एक वैसा ही सदस्य है, जैसा कोई भी अन्य विषय। उसका कोई विशिष्ट अलग स्थान नहीं है। इसके विरूद्ध 1960 में पी.टी. राजू अपने अध्यक्षीय भाषण में कहते हैं कि अपने अनुभवों के विषयी को कोई भी विषयों के बीच विषय के रूप में नहीं देखता।[4] राजू एक और महत्त्वपूर्ण आपत्ति उठाते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि विषयी को असत् या मिथ्या मानती है। तब नीतिशास्त्र का सम्बन्ध एक मिथ्या वस्तु से होगा और उस अवस्था में वह शास्त्र व्यर्थ का श्रम होगा।[5] इसी प्रसंग में वे आगे कहते हैं, कि यद्यपि विषयी शरीर पर निर्भर है, परन्तु, उसका संचालन वह स्वयं करता है। शरीर की भांति विषयी देशीय नहीं है।[6] शरीर के विषय में हम कह सकते हैं कि वह 6 फुट लम्बा है, परन्तु चेतना के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह बात अनुभव की प्रकृति से मेल नहीं खाती कि भौतिक देह स्वयं चेतना है।[7] स्पष्ट है यहाँ विषयी तथा चेतना को अभिन्न समझा जा रहा है और विषयों से भिन्न उसकी अपनी श्रेष्ठता है।

गंगानाथ झा तथा पी.टी. राजू, दोनों ही चेतना को मनुष्यों में एक समान मानते हैं। राजू कहते हैं, ''वह चेतना जो सभी प्रत्यक्षकर्त्ताओं को वही विषय प्रस्तुत करती है, वह सब में समान है। ऐसी चेतना स्वयं को वैशिष्ट्य के सभी पक्षों से मुक्त रखती है।''[8] इस वक्तव्य को स्वीकार करने में कुछ कठिनाइयाँ हैं, परन्तु उन्हें अभी विचार में लेना स्थाने नहीं होगा। झा तो चेतना की व्यापकता को मनुष्य तक ही नहीं अपितु समस्त जीवों एवं समस्त अस्तित्व तक विस्तार देते हैं। साथ ही, वे उसे एक भी मानते हैं। उस दशा में प्रश्न उपस्थित होता है कि जगत् में वैविध्य क्यों है ? उत्तर में झा विविधता का मूल चेतना की अभिव्यक्ति मानते हैं।[9]

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि बीसवीं सदी के कुछ प्रमुख भारतीय विचारक आत्मा, चेतना, मनस्, विषयी या बुद्धि को (राजू चेतना, आत्मा, विषयी तथा बुद्धि में अन्तर करते नहीं लगते) देह से भिन्न, स्वतन्त्र, कर्त्ता तथा ज्ञाता के रूप में मानते हैं, तथा उन वैज्ञानिक एवं दार्शनिक प्रवृत्तियों की आलोचना करते हैं, जो आत्मा को भौतिक, रासायनिक प्रक्रियाओं में घटाते प्रतीत होते हैं।

एक रोचक बात यह है कि बीसवीं शताब्दी के भारतीय विचारकों में ऐसा कोई नहीं है जो विज्ञान से प्रभावित नहीं हुआ हो। चाहे यह प्रभाव आलोचना का विषय ही क्यों न रहा हो। साथ ही सामाजिकता, मनुष्य की सामाजिक भूमिका का और नैतिक दायित्व का बोध भी सभी को रहा है। परन्तु विज्ञान के प्रति विचित्र मनोदशा का पता चलता है। एक ओर तो लगता है कि विचारकों को यह अहसास है कि किसी सीमा में विज्ञान की खोजें तथा उसकी जानकारी मानवीय स्थिति पर प्रकाश डालती हैं। महादेवन जो मनुष्य की आन्तरिक वास्तविकता की बात करते हैं, सुझाते हैं कि यदि वैज्ञानिक अपनी सामान्य प्रयोगशालीय प्रणाली के साथ आन्तरिक दृष्टि को विकसित करें, तो मानवीय स्थिति के कुछ पक्षों पर बेहतर प्रभाव पड़ सकता है। उनके इस सुझाव में कम से कम इतनी स्वीकारोक्ति तो है कि विज्ञान का क्षेत्र जो विशेषकर मनुष्य से सम्बन्धित है, अपनी पद्धति में कुछ और जोड़ ले तो उनके क्षेत्र में अधिक अच्छा काम हो सकता है। इस सन्दर्भ में वे अमेरिका की लाइफबिन फाउण्डेशन के ट्रिगेन्ट बरो तथा उनके साथियों की चर्चा करते हैं जिन्होंने विज्ञान की एक नवीन शाखा का निरूपण किया है जिसे वे फाइलोबायोलॉजि अथवा फाइलोपैथोलॉजि कहते हैं। इन लोगों ने इस बात का अनुसन्धान किया है कि रोग या रोग निदान की प्रकृति या उनका मूल क्या है जिससे मनुष्य के स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। आत्म–विश्लेषण एवं समूह विश्लेषण के द्वारा इन वैज्ञानिकों ने पाया कि मनुष्य में चेतना का प्रारम्भ उसे अपने तथा अपने परिवेश से अलग कर देता है। जब मनुष्य जानने की प्रक्रिया में होता है, तथा उसका अलग विषयी रूप "मैं" में परिवर्तित होता है, तब यह अलगाव ही, समाज में संघर्ष तथा अपराध का कारण बनता है। इस अलगाव का उपचार पूर्णता के सिद्धान्त की ओर वापसी से ही संभव है।[10]

गंगानाथ झा डेविड फैरेडे लैबोरेटरी, लन्दन के एक भौतिकीविद् को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि चाहे बात ऑर्गेनिक जगत् की हो या इनौर्गेनिक जगत् की, जगत् के विषयों की प्रतिक्रियाओं में एक प्रकार की समानता दिखाई पड़ती है। इससे यह आशा होती है कि यदि इस तथ्य से एक पग आगे बढ़ा जाय तो यह कल्पना की जा सकती है कि विषयों का निर्धारण किसी अज्ञात, यादृच्छिक प्राणशक्ति की क्रीड़ा नहीं है अपितु ऐसे विषयों द्वारा निर्धारित है जिनमें परिवर्तन नहीं होता, तथा जो समस्त आर्गेनिक जगत् में समान रूप से सक्रिय हैं। इस कल्पना से एक पग और

आगे जाने का प्रस्ताव रखते हुए झा कहते हैं कि तब भौतिकीविद् यह भी देख सकेगा कि जिस एकरूपता की वह बात करता है उसका आधार चेतना की इकाई है, जो समस्त अस्तित्व में अन्तर्हित है।[11]

महादेवन तथा झा के कथनों से ऐसी ध्वनि प्राप्त होती है कि यदि विज्ञान के शोध एक विशिष्ट दिशा में हों, तब उसके निष्कर्ष तत्त्वमीमांसीय निष्कर्षों से मेल खाने लगेंगे। अन्य शब्दों में उनकी दृष्टि में यह अन्तर्निहित है कि विज्ञान तथा तत्त्वमीमांसा में कोई मौलिक विरोध हो यह आवश्यक नहीं है। ज्ञान के विकास की अपूर्णावस्था में यह विरोध आपातिक है।

विज्ञान तथा दर्शन के रचनात्मक सम्बन्ध की दृष्टि से देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय का सुझाव है कि यदि हम चाहते हैं कि दर्शन प्रगति के पथ पर बढ़े। तो दार्शनिक चिन्तन का आधार 'विशिष्ट वैज्ञानिक खोजें' होनी चाहिए।[12] यदि दर्शन विशिष्ट विज्ञानों, कम से कम, उनके इतिहास के साथ, आलोचनात्मक संवाद की स्थिति में नहीं आता, तो वह धरातल की वस्तुओं को छोड़ते हुए काल्पनिक उड़ान ही भर पायेगा।[13] यह कथन हमें कान्ट की उस दृष्टि का स्मरण कराती है जिसके अनुसार कान्ट तत्त्वमीमांसा की कल्पनापरक प्रवृत्ति की ओर इशारा करते हैं, और जमीन पर रहने के लिए प्रदत्त की भूमिका पर बल देते हैं। चट्टोपाध्याय का मत यह भी है कि उच्च दिशाओं में भौतिकी, आण्विक भौतिकी अथवा कॉस्मोलॉजि दर्शन के पर्याप्त निकट हैं।[14]

दूसरी ओर कुछ विचारकों ने विज्ञान की सीमाओं तथा दार्शनिक समस्याओं के अन्वेषण में उसकी अप्रासंगिकता की ओर भी ध्यान दिलाया है (विशेषतया 'मनुष्य' अथवा 'आत्मा' के सन्दर्भ में)। भौतिकी के प्रभाव में अनुभववादी प्रवृत्ति के व्यापक प्रभाव का विरोध करते हुए अनुकूल चन्द्र मुखर्जी कहते हैं कि उनका इरादा विज्ञान के निष्कर्षों को चुनौती देना नहीं है अपितु, ''अन्वेषण की प्राकृतिक वैज्ञानिक प्रणाली के सार्वभौमीकरण को चुनौती देना है'', विशेषकर तब, जब हमारे अन्वेषण का विषय मनुष्य तथा अस्तित्व में उसका स्थान होता है।[15] अलेग्जेण्डर तथा रसेल की आलोचना करते हुए, ए.बी. ध्रुव ने आकर्षक ढंग से कहा है, ''मेरे नम्र विचार में आपके सुन्दर सागर तट पर विज्ञान की लहरें–जैसा कि बहुधा अतीत में हुआ है और जैसा कि अब भी हो रहा है--तत्त्वमीमांसा की चट्टानों से टकराती हैं, और फिर वापिस लौट जाती हैं। वे उन्हें उतना ढक भी नहीं पातीं जितना रेत की दूसरी लहरें।''[16]

वस्तुतः विज्ञान के प्रति ये दो प्रकार की वृत्तियाँ शायद मानवीय स्थिति के विभिन्न आयामों के कारण उत्पन्न होती हैं। इन आयामों की ओर इशारा करते हुए राधाकृष्णन कहते हैं, ''मनुष्य के दो घटक हैं, एक तो वह जिसके कारण वह काल तथा इतिहास के प्रवाह में एक अंग बन जाता है, दूसरा वह जिसके कारण वह इसका (इस प्रवाह) अतिक्रमण कर जाता है, जिसके कारण वह सामान्य कारण कार्य श्रृंखला के ऊपर उठ जाता है।''[17] पुनः वे कहते हैं ''मनुष्य जो प्रकृति द्वारा उत्पन्न है, उसकी अनिवार्यताओं के अधीन है, उसके नियमों के आगे विवश है, तथा प्रवृत्तियों से परिचालित है, अ–प्राकृतिक भी है, एक ऐसी आत्मा जो प्रकृति के बाहर भी रहती है।''[18] इन दो घटकों में प्रथम घटक मनुष्य के विज्ञान के क्षेत्र में एक अन्वेषणीय विषय का स्थान रखता है, तो दूसरा घटक उसकी स्वतन्त्रता और स्वायत्तता की रक्षा करता है। परन्तु यह समझ कठिनाइयों से मुक्त नहीं है। क्योंकि जैसे ही हम दो घटकों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में प्रश्न उठाते हैं, कुछ जिद्दी समस्याएँ सिर उठाने लगती हैं। इस प्रकार के द्वैत से बचने का उपाय उसे अस्वीकार ही करना है।

इस सन्दर्भ में ज्ञानेश्वर मिश्रा के विचार चार्वाक– दृष्टि को एक अत्यन्त परिष्कृत रूप में प्रस्तुत करता प्रतीत होता है। वैज्ञानिक तथा यथार्थवादी दृष्टि कोण से उनका मत महत्त्वपूर्ण है। उनका कहना है कि शुद्ध विषयिता (अथवा आत्मा) का विचार किसी काम का नहीं है।[19] उनका मानना है कि अन्य शरीरों या व्यक्तियों के बीच शरीर के रूप में स्थित मनुष्य अधिक आधारभूत है तथा वैचारिक आदान–प्रदान की एक पूर्वापेक्षा है।[20] जहाँ राधाकृष्णन और राजू आत्मा को दिक् काल में स्थित नहीं मानते वहाँ मिश्रा का आत्म सम्बन्धी सोच दिक् काल में उसकी स्थिति को केन्द्र में रखकर आगे बढ़ती है। परन्तु मिश्रा मनुष्य को एक मशीन या यन्त्र नहीं मानते। उनका मानना है कि मनुष्यों का व्यवहार या तो मूर्खतापूर्ण होता है या युक्तिसंगत, परन्तु यन्त्र या तो ठीक काम करता है या बन्द हो जाता है।[21]

यह सर्वविदित है कि भारतीय दर्शन के विषय में, उसमें पाई जाने वाली विविध धाराओं की ओर ध्यान दिए बिना, इस प्रकार की आलोचनाएँ हुई हैं जो नितान्त व्यक्तिपरक हैं। ऐसी धारणाएँ मोक्ष से भी सम्बन्धित हैं। मोक्ष का यह अर्थ भी किया जाता है कि उसे पाने का प्रयास संसार से मुख मोड़ना है। अन्य शब्दों में सामाजिक चेतना, सामाजिक दायित्व तथा नैतिक सन्दर्भों का इस परिप्रेक्ष्य में कोई विशेष अर्थ नहीं रहता। स्पष्ट है कि ये

विचार मूलतः मनुष्य के विचार की उस कल्पना की ओर इंगित करते हैं, जो उसे देह से भिन्न, दिक्काल के सन्दर्भ से मुक्त, शुद्ध बुद्ध आत्म के रूप में प्रस्तुत करती है। बीसवीं शताब्दी के भारतीय विचारकों ने यदि मनुष्य के अतिक्रामी स्वरूप को स्वीकार किया है, तो उसकी एक ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास भी किया है, जिसमें नैतिक, सामाजिक तथा राजनैतिक पक्षों की भी रक्षा हो।

अपने 1928 के व्याख्यान में ए.बी. ध्रुव कहते हैं कि "हम कान्ट के नैतिक व्यक्तिवाद तथा मिल के 'अधिकतम संख्या' के दर्शन को पीछे छोड़ आए हैं, और (हमने) यह जान लिया है कि नीतिशास्त्र केवल व्यक्ति पर ही पूर्णतया आधारित नहीं है, अपितु वह उसके समाज, राज्य, विश्व–राज्य; यहाँ तक कि "ईश्वर के साम्राज्य' से सम्बन्ध पर आधारित है ... पूर्ण अपने भागों में है, अर्थात् एक अनेक में। सामाजिक अंगी का यह (वह) पक्ष है जिस पर प्रसिद्ध पुरुष–सूक्त में बल दिया गया था ...।"[22] महादेवन बताते हैं कि "अहं–केन्द्रीयता सच्ची आन्तरिकता नहीं है; वास्तविक यथार्थ जो आत्म है, उससे अहं बाहर पड़ता है। "वास्तविक आत्म केवल विषय के विरुद्ध स्थित विषयी ही नहीं है, वह विषयी तथा विषय का आधार है।"[23] यद्यपि यहाँ समाज की ओर स्पष्ट संकेत नहीं है, 'अहं' तथा 'आत्म' का भेद, जिस पर यशदेव शल्य ने भी बल दिया है,[24] व्यक्तिवाद की सीमा को निर्धारित करता है। निषेधात्मक रूप में व्यक्तिवाद की सीमा हमें सामाजिकता तथा अन्ततः समस्त अस्तित्व के प्रति उन्मुख करती है। कुछ इसी प्रकार का निर्देश हमें राजू के द्वारा 'विषयी' तथा 'मनोगतता' में किये गए भेद से प्राप्त होता है। उनका मानना है कि भारतीय ज्ञानमीमांसा नैतिक–आध्यात्मिक मूल में मूलित है।[25] विशिष्टता से रहित आत्म या चेतना जो सब में समान है, सामाजिकता का आधार मानी जा सकती है। पी.एन. श्रीनिवासाचार्य का कहना है कि नैतिक जीवन की पूर्वापेक्षा आत्म की स्वतन्त्रता है और यह अहंवाद से मुक्त होने में है।[26] नैतिकता को प्रकृतिवाद तथा निरपेक्षवाद के प्रवेश से अपनी रक्षा करनी है, और इसके लिए नैतिक स्वतन्त्रता पर बल देना तथा आत्म की वस्तु के विरुद्ध व्यक्ति के रूप में साध्यता मानना आवश्यक है।[27] मनुष्यों की समानता में यह निहित है कि सभी मनुष्यों में एक ही देवत्व है, भाईचारे का आदर्श मनुष्य की आध्यात्मिकता पर आश्रित है। पश्चिम के राजनैतिक आदर्शों को इस प्रकार आध्यात्मिकता से अनुप्राणित किया जा सकता है।[28] इन विचारकों के लिए आध्यात्मिकता न केवल नैतिकता तथा सामाजिकता से सम्बद्ध है, अपितु वह उन्हें एक अनिवार्य आधार भी देती है।

परन्तु सभी मनुष्यों में एक ही तत्त्व को, आत्मा या चेतना को, विद्यमान मानकर सामाजिकता की व्याख्या और व्यक्तित्व के विविध रूपों की उपेक्षा करना है। यदि एकता में सार है तो वैविध्य भी जीवन का अपरिहार्य पक्ष है। सामाजिकता में दोनों ही पक्ष अपेक्षित प्रतीत होते हैं। इस समन्वय का रूप क्या हो, विलक्षण व्यक्तित्व की क्या भूमिका है, इन प्रश्नों के उत्तर समाज दर्शन के रूप को निर्धारित करेंगे।

ज्ञानेश्वर मिश्रा का मत वैविध्य की व्याख्या में अधिक समर्थ जान पड़ता है। जगत्, प्रकृति अथवा अस्तित्व से विषयी या आत्मा को काटकर देखने या समझने की प्रवृत्ति अथवा दूसरे शब्दों में उसे शुद्ध विषयी के रूप में प्रतिष्ठित करने की प्रवृत्ति, संसार के प्रति उदासीनता की ओर ले जाती है।[29] आत्म की अशरीरी व्याख्या इस प्रवृत्ति को बल देती है। ''मनुष्य आवश्यक रूप में सामाजिक और पार्थिव है।''[30] व्यक्ति के व्यक्तित्व में उसके दैहिक पक्ष का तथा उसकी तज्जन्य स्थिति का वैविध्य तथा वैभिन्न्य की दृष्टि से आधारभूत महत्त्व है जो सामान्यतया आदर्शवादी अथवा अध्यात्मवादी दृष्टि में उपेक्षित रहता है।

इस प्रकार इस संक्षिप्त विवरण में जिन कुछ विचारकों के विचारों की ओर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास हुआ है वे पिछली शताब्दी के पिछले नौ दशकों से जुड़े हैं। दूसरे इस अवधि में जो पुस्तकें, दार्शनिक पत्रिकाएँ, प्रकाशित हुई हैं अथवा विचार गोष्ठियाँ हुई हैं, उनका सन्दर्भ इस विवरण में शामिल नहीं है। स्पष्ट है, परिपूर्णता की दृष्टि से यह विवरण अत्यन्त अपर्याप्त है। फिर भी इस विवरण से हमे 'आत्म, विषयी' या 'मनुष्य' सम्बन्धी, बीसवीं शताब्दी के भारत के कुछ अग्रणी विचारकों के सोच की दिशाओं का यत् किंचित् पता चलता है।

राजेन्द्र स्वरूप भटनागर
10/558 कावेरी पथ, मान सरोवर
जयपुर 302020

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. *फैसेट्स ऑव रीसेन्ट इण्डियन फिलॉसोफी – खण्ड तीन (प्राबलेम्स ऑफ इण्डिन फिलॉसोफि) सम्पादक, एस.पी.दुबे, दिल्ली, 1996 पृ.।*
2. *फैसेट्स......खण्ड एक (द मैटाफिजिक्स ऑफ स्पिरिट), सम्पादक, एस.पी.दुबे, दिल्ली, 1994, पृ. 171*

3. वही, पृ. 269.
4. वही, पृ. 274.
5. वही,
6. वही, पृ. 275
7. वही,
8. वही, पृ. 282
9. वही, पृ. 264
10. वही, पृ. 171–2
11. वही, पृ. 171–7
12. फैसेट्स.......खण्ड दो, (इण्डियन फिलॉसोफी एण्ड हिस्ट्री) दिल्ली, 1996, पृ.35
13. वही, पृ. 36
14. वही, पृ. 28
15. फैसेट्स........खण्ड एक,.......पृ. 188
16. वही, पृ. 94
17. फैसेट्स........खण्ड दो,.......पृ. 156–7
18. वही, पृ. 155
19. वही, पृ. 110
20. वही,
21. वही, पृ. 129
22. फैसेट्स......खण्ड एक ....पृ.111
23. वही, पृ. 176–7
24. सत्ताविषयक अन्वीक्षा, यशदेव शल्य, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, दिल्ली, 1987
25. फैसेट्स.....खण्ड एक,......पृ.277
26. वही, पृ. 228
27. वही, पृ. 229
28. वही, पृ. 235
29. फैसेट्स.....खण्ड दो......पृ. 108
30. वही पृ...119

पुस्तक-समीक्षा

वेदांती समाजवाद, प्रो. जटाशंकर*

मुश्ताक अली

बहुत सारे मशहूर कथाकारों के उपन्यासों और कहानियों को पूरा का पूरा पढ़ पाना आज जितना कठिन है, उतना ही सरल है डॉ. जटाशंकर जी द्वारा लिखित पुस्तक 'वेदांती समाजवाद' को पढ़ना क्योंकि आज जो उपन्यास और कहानियाँ लिखी जा रही हैं उनमें साहित्य रस से ज़्यादा विमर्शों की भरमार है। आज उत्तर आधुनिक समय में किसी पुस्तक की लोकप्रियता उसका गुण नहीं दोष माना जा रहा है। जब तक कोई पुस्तक आपको अटकाये नहीं; उलझाये नहीं तब तक वह अच्छी हो ही नहीं सकती। हालाँकि 'वेदांती समाजवाद' है तो विमर्शों से भरपूर लेकिन पढ़ने में अत्यंत गतिशील और रोचक। समाजवाद पर हुई बहसों में दिलचस्पी की वजह से मुझे यह पुस्तक अत्यंत प्रिय है या जटाशंकर जी की लेखन–शैली में ही कुछ ऐसा प्रवाह है कि एक बार पढ़ना शुरू करने के बाद मैं खत्म किये बगैर अपने को रोक नहीं पाया। लेकिन इतना जानता हूँ कि जिस बैचैनी के साथ मैंने यह पुस्तक पढ़नी शुरू की, वह कम होने के बजाय बढ़ी ही है और मेरे सामने बहुत सारे सवाल छोड़ गयी है। इस पुस्तक में ऐसे अनेक स्थल हैं जिनसे मेरी मतभिन्नता है,लेकिन जिस तार्किक ढंग से उन्होंने अपनी बातें रखी हैं, उन्हें काटना मुश्किल भरा रहा है।

जहाँ तक उन्हें मैं जान पाया हूँ, उसके आधार पर कह सकता हूँ कि वे मार्क्सवादी नहीं हैं और सनातन हिंदू धर्म में अपनी गहन निष्ठाओं के कारण हो भी नहीं सकते लेकिन मार्क्सवाद और भरतीय दर्शन में साम्य–वैषम्य के विभिन्न बिन्दुओं पर उनकी भरपूर दिलचस्पी है। उसी के परिणामस्वरूप उन्होंने अपने अध्ययन के लिए ऐसा विषय चुना है। इसके लिए उन्होंने कठिन परिश्रम कर कुछ सकारात्क निष्कर्ष भी निकाले हैं और अपने पूज्य गुरू स्व. प्रो. संगमलाल पाण्डेय से प्रसंशा पाने में सफल रहे हैं, जबकि उन जैसे गूढ़–गंभीर गुरू से प्रशंसा पाना कितना कठिन रहा होगा, इसकी

---

*प्रकाशक–समाज धर्म दर्शन, 117–सी, टैगोर टाउन, इलाहाबाद 1999 मूल्य 150/–

कल्पना वे लोग ही कर सकेंगे जो उनको जानते होंगे। कई मामलों में पाण्डेय जी 'साम्यवाद' की तुलना में 'वेदांतमूलक समाजवाद' को ज़्यादा बेहतर समझते थे, लेकिन जटाशंकर जी की दृष्टि अत्यंत संतुलित और निरपेक्ष रही है क्योंकि वे एक दूसरे को पूरक तो समझते हैं लेकिन किसी को कमतर या किसी को बेहतर नहीं। निष्कर्ष के तौर पर उन्होंने लिखा है– "वेदांत और समाजवाद के बीच घनिष्ठ संबंध है। दोनों को परस्पर विरोधी मानना असंगत है। वास्तव में दोनों परस्पर पूरक हैं।" उनकी दृष्टि में समाजवाद भौतिकतावादी है, जबकि वेदांत अध्यात्मवादी, लेकिन भौतिकवाद को व्यावहारिक और अध्यात्मवाद को पारमार्थिक दर्शन मानकर इनमें संबंध स्थापित किया जा सकता है। परन्तु इस संबंध की सूत्रान्विति क्या होगी, इसका खुलासा उन्होंने नहीं किया है। अतएव सैद्धान्तिक रूप से उसके अध येता के रूप में उन्होंने आग और पानी को मिला तो दिया है, लेकिन व्यावहारिक धरातल पर वह भी एक प्रकार की आदर्शात्मक परिणति ही है। ऐसे स्वप्न को हक़ीक़त में बदलना निश्चय ही एक प्रकार की अकादमिक अथवा भाषायी क्रीड़ा भर है। बावजूद इसके उन्होनें मार्क्स के पूर्व और बाद के समाजवाद की पड़ताल के साथ मार्क्स एवं एंगेल्स के समाजवाद का सूक्ष्मता से अध्ययन तो किया ही है, वेदांत और भगवत्गीता में समाजवाद की अवधारणओं की सिनाख़्त भी की है। भारत के आधुनिक वेदांतियों में स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ, श्री अरविन्द एवं स्वामी करपात्री जी द्वारा समाजवाद पर किये गये विवेचनों का विश्लेषण भी किया है। आधुनिक विचारकों में महात्मा गाँधी, जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया और संपूर्णानंद पर वेदांत का क्या प्रभाव पड़ा है और उन मनीषियों ने मार्क्सवाद के बरअक्स वेदांती समाजवाद को कैसे खड़ा किया है, उसका भी तुलनात्मक अध्ययन पेश किया है।

इसमें दो राय नहीं कि समाजवाद के वर्गहीन समाज के आदर्श एवं उसके समानता, स्वतंत्रता एवं भ्रातृत्व जैसे संप्रत्ययों ने उन्हें जितना आकर्षित किया है, रक्तरंजित क्रांति, वर्ग–संघर्ष और पारस्परिक वर्ग–विद्वेष जैसे मानवताविरोधी क़दमों ने उतना ही निराश भी किया है। यही कारण है कि उन्होंने वेदांती समाजवाद का विस्तार से अध्ययन किया है और उसमें भी जो बातें नागवार गुजरी हैं, उनका भी खंडन किया है। वेदांत के जिन संप्रत्ययों मसलन अद्वैत और साम्य, स्वाराज्य, लोक संग्रह, अभेद, सन्यास और यज्ञ आदि का हवाला देकर उन्होंने जो निष्पत्तियाँ निकाली हैं, वे बहुत

ही सुंदर और आशाजनक रही हैं लेकिन हैं अव्यावहारिक ही। यही हाल धन–लिप्सा का भी है। धन के निरंतर चिंतन तथा उसकी प्राप्ति के सतत् प्रयास को मार्क्स ने तो बुरा बताया ही, गीता में पहले से वर्जित है क्योंकि मार्क्स द्वारा वर्णित सच्चा साम्यवादी वही हो सकता है जिसमें गीता द्वारा स्थापित अपरिग्रह और अनासक्ति के गुण हों। बकौल जटाशंकर जी यह स्वीकार करते हैं कि आदर्श समाज में वैभव–लोलुपता स्वार्थ, व्यक्तिगत संपत्ति आदि के लिए कोई स्थान नहीं लेकिन समाज में जो हक़ीक़त है, वह ठीक इसके उलट है। वे मार्क्स के 'वर्गविहीन समाज' और गीता के 'चातुर्वर्ण्य' में कोई तात्त्विक विरोध नहीं देखते, लेकिन आज ऐसा कौन कह सकता है कि गुण और कर्म के आधार पर शुरू हुई वर्ण–व्यवस्था घोर अस्पृश्यता और सामाजिक भेदभाव में नहीं बदल गयी है। यही वजह है कि संविधान में उसे मिटाने के लिए अनेक संशोधन करने पड़े और भारतीय समाज की यह वह हक़ीक़त है जिससे कोई भी इनकार नहीं कर सकता। फिर जो भारतीय समाज बहु धार्मिक, बहु सांप्रदायिक एवं बहुजातीय हो, उसका संचालन रूढ़ और जड़ पड़ चुकी व्यवस्था से अब कैसे संभव है, विचारणीय प्रश्न है। उन्होंने स्वामी विवेकानंद का उल्लेख करते हुए कहा है कि उनकी दृष्टि में शूद्र ही भारत के सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं और इस देश के लिए उन (शूद्रों) का उन्नयन ही समाजवाद है। आगे अपने विश्लेषण में उन्होंने स्वामी विवेकानंद के हवाले से यहाँ तक कहा है कि यदि भारत में शूद्रों की स्थिति, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ब्राह्मणों की स्थिति के समान हो जाय तो वह पूर्ण समाजवादी राष्ट्र बन जाएगा।

जाहिर है यह बात स्वामी विवेकानंद ने 1902 से पहले ही कही होगी तब से अब तक 107 वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। शूद्रों (अनुसूचित जाति/अनुसूचित जन जाति) से जाति के आधार पर कोई भेदभाव न किया जाय, इसके लिए संविधान ने बहुत सारे कानून बनाये; सरकारी सेवाओं में उनके लिए आरक्षण की व्यवस्था की गयी। लेकिन ब्राह्मणों की स्थिति की बराबरी वे आज तक नहीं कर सके। श्री हरिकिशन संतोषी ने 2009 में सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित अपनी पुस्तक 'दलितों के दलित' में समाज में दोनों की स्थिति का जायजा लेते हुए दिखाया है कि ब्राहमणों की संख्या कुल आबादी की 3% है और अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति की संख्या 22.5% जबकि ब्राहमण राजनीति में 41% शिक्षा में 50% नौकरी में 64% व्यापार में 10% भूमि में 5% और पुरोहिती में 100% हैं लेकिन अनुसूचित

जाति/अनुसूचित जन जाति के लोग राजनीति में 20%, शिक्षा में 6%, नौकरी में 7%, व्यापार में 10%, भूमि में 2% और पुरोहिती में निल ही हैं। (पृ. 51) ऐसे में समाजवाद की बात सुनने में तो बहुत अच्छी लग सकती है, लेकिन वास्तविकता से उसका कुछ भी लेना–देना नहीं है।

जटाशंकर जी स्वामी रामतीर्थ के ऐसे विचारों का तो आदर करते हैं जहाँ उन्होंने समाजवाद में पूँजीवाद और व्यक्तिगत संपत्ति के विरोध को वेदांत का भी उद्‌देश्य बताया है विशेषकर त्याग और अपरिग्रह की दृष्टि से; लेकिन जहाँ स्वामीजी ने पशुओं के यौन संबंधों के व्यवहार की प्रशंसा कर मनुष्यों को भी उसका अनुकरण करने की बात कही है, वहाँ वे उनका अनुकरण नहीं करते अपितु तीखी टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि यौन स्वातंत्र्य संबंधी ये विचार स्वामी जी जैसे निःस्पृह और संयमी संन्यासी के लिए समीचीन हो सकते हैं जिन्होंने काम वासनाओं को पूर्ण रूप से जीत लिया है किंतु सामान्य जनता में यह विचार घोर अराजकता, हिंसा और रक्तपात की भयावह स्थिति उत्पन्न कर देगा। जहाँ तक अरविन्द के ऊपर वेदांत का प्रभाव था, उस संबंध में जटाशंकर जी कहते हैं कि श्री अरविन्द समाजवाद के हिमायती तो हैं, लेकिन राज्य–निरंकुशता के सिद्धांत से वे क्षुब्ध थे। वे समाजवाद की साम्राज्यवादी नीति से पैदा होने वाले खतरों से वाकिफ तो थे ही, मार्क्स द्वारा वर्णित समाजवाद में व्यक्ति की स्वतंत्रता बंधक होगी, यह भी जानते थे। इसलिए समाजवाद की स्थापना केवल मार्क्स द्वारा वर्णित विधि से हो सकेगी; इसमें उन्हें यकीन नहीं था; न ही वे उसे वैज्ञानिक मानते थे। वे यह तो मानते थे कि समाजवाद सैद्धांतिक रूप से भले समानता को स्वीकार करता हो, लेकिन व्यावहारिक रूप से वह असफल ही होगा। स्वामी करपात्री जी को जटाशंकर जी ने वेदांत दर्शन का हिमायती बतया है जिन्होंने 'रामराज्य' के विचारों को विकसित किया लेकिन करपात्री जी के दार्शनिक विचारों और मार्क्स के विचारों में उन्हें जो सही लगा है, उसका ही समर्थन किया है जैसे शोषण के सवाल पर करपात्री जी के बरअक्स वे मार्क्स के विचारों को ज्यादा तरजीह देते हैं। इसी तरह वर्ग–संघर्ष के मामले में वे करपात्री जी के विचारों को आदर्श की कल्पना मात्र मानते हैं। व्यक्तिगत संपत्ति के उन्मूलन के मामले में भी करपात्री जी के विचारों में उन्हें संहति दोष दिखाई पड़ता है। महात्मा गाँधी के बारे में जटाशंकर जी का दृढ़ मत है कि उनका सत्य, अहिंसा, कर्त्तव्य बोध और स्वार्थों के त्याग पर आधारित सिद्धांत ही व्यक्ति को उस स्तर तक पहुँचा

सकता है जहाँ वह राज्य जैसी सत्ता के बिना भी अपना सामाजिक जीवन शांति एवं सुख के साथ बिता सकता है। महात्मा गाँधी, बिनोवा भावे और जयप्रकाश नारायण के बारे में तो उनका कथन है कि वेदांत के मूल्यों को ही वे सामाजिक मूल्यों के रूप में स्थापित करने का प्रयास करते हैं। वे मानते हैं कि लड़ाकू समाजवाद के हिमायती डॉ. राममनोहर लोहिया भी महात्मा गाँधी के सत्याग्रह सिद्धांत के पोषक थे और जीवनपर्यंत वे उसी मार्ग पर चले। अन्याय को अनिवार्य अशुभ के रूप में स्वीकार करने वाले लोहिया जी मानते थे कि अशुभ तब तक रहेगा जब तक विश्व है लेकिन आदर्श समाज वही है जिसमें अल्पतम अशुभ हो और उसी की प्राप्ति के लिए सत्याग्रह का निरंतर पालन जरूरी है। डॉ. संपूर्णानंद के बारे में जटाशंकर जी ने अपने निष्कर्ष में स्वीकार किया है कि समाजवाद की वेदांती रूपरेखा उनके मस्तिष्क में थी जिसे वे भारत के लिए संभव एवं उपयोगी मानते थे। समाजवाद के जिस रूप की कल्पना उन्होंने भारतवर्ष के लिए की है, वह यहाँ की संस्कृति में बसा हुआ रूप है। वह कोई और नहीं त्याग और अपरिग्रह के सामाजिक मूल्यों पर आधारित समाजवाद है।

मैं नहीं जानता कि जो भारतवर्ष एक समाजवादी–धर्मनिरपेक्ष–लोकतांत्रिक एवं प्रभुतासंपन्न गणराज्य के रूप में अस्तित्व में है, उसमें 'वेदांती समाजवाद' से क्या–कुछ लिया गया है या 1976 में लाये गये 42 वें संविधान संशोधन में समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता के जिन उच्च आदर्शों की वकालत की गयी, उसका परिणाम क्या निकला, क्योंकि चमकते भारत की तुलना में आज भी वंचित भारत बहुत विशाल है और दोनों के बीच की खाई प्रशांत महासागर से कम नहीं। यह सब तब है जब दुनिया भर में भारत के लोकतंत्र की दुहाई दी जाती है। लेकिन मेरे यह सब कहने से जटाशंकर जी द्वारा की गयी मेहनत का मूल्य कम नहीं हो जाता क्योंकि उन्हें तो एक विमर्शकार की भूमिका में विषय–वस्तु का विवेचन करते हुए एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना था, सो वे पहुँचे ही हैं लेकिन यह समाज और व्यवस्था चलाने वालों की जिम्मेदारी है कि वे उनके निष्कर्षों का लाभ उठायें।

हिंदी विभाग,

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002

नारायण शास्त्री द्राविड़ का स्मरण

सच्चिदानन्द मिश्र

वाराणसी की संस्कृत विद्वत्परम्परा काफी प्राचीन तथा समृद्ध रही है, साथ ही साथ अद्यावधि व्यवस्थित रूप से प्रवर्तमान है। नारायणशास्त्री द्राविड़ इसी समृद्ध परम्परा के वरद् पूत्रों में एक रहे। भारतीय दर्शनों का प्रायशः समग्र साहित्य संस्कृत भाषा में ही संरक्षित है। इस कारण उन विद्वानों का योगदान भारतीय दर्शनों के विकास तथा संरक्षण में विशिष्ट रहा है जिन्होंने संस्कृत भाषा का विधिवत् अध्ययन किया है। सामान्यतया संस्कृत के विद्वान आधुनिक दर्शनों की समझ नहीं रखते तथा आधुनिक दर्शनों की समझ रखने वाले लोग संस्कृत से भलीभाँति परिचित नहीं होते। इस कारण भारतीय दर्शनों तथा पाश्चात्य दर्शनों के मध्य एक संवाद की कमी विविध दार्शनिकों तथा विद्वानों ने महसूस की। वस्तुतः इस संवाद की कमी ने भारतीय दर्शनों तथा पाश्चात्य दर्शनों दोनों का ही नुकसान किया है। भारतीय दर्शनों का नुकसान इस अर्थ में कि भारतीय दर्शनों की वैचारिक समृद्धि से पश्चिमी विद्वान तथा दार्शनिक सम्यक्तया परिचित नहीं हो सके, इस कारण भारतीय दर्शनों को वह महत्त्व अभी भी नहीं मिल सका, जिसके भारतीय दर्शन अधिकारी थे। पाश्चात्य दर्शनों का नुकसान यह हुआ कि अनेक विवादास्पद विषयों पर भारतीय दर्शनों की दृष्टि कुछ अधिक सहायता कर सकती थी जिससे कि अनेक समस्याओं को सुलझाने में मदद प्राप्त हो सकती थी, वह नहीं प्राप्त हो सकी। स्वर्गीय नारायण शास्त्री द्राविड़ जो अब हम सब के बीच नहीं रहे, कुछ इसी प्रकार के पारम्परिक तथा आधुनिक दर्शन के मध्य सेतु के समान रहे। बीसवीं शताब्दी के भारत के दार्शनिकों में गिनती के ही दार्शनिक हुए हैं, जिन्हें भारतीय दर्शनों की गम्भीर समझ के साथ–साथ पाश्चात्त्य दर्शनों की भी गम्भीर समझ रही है। आचार्य नारायण शास्त्री द्राविड़ जी इसी प्रकार के विद्वानों में से अन्यतम रहे हैं। वाराणसी के संस्कृत वैदुष्य के लिए विख्यात राजेश्वर शास्त्री द्राविड़ के अत्यन्त निकट सम्बंधी आचार्य नारायण शास्त्री द्राविड़ जी काशी में ही जन्में और उनकी शिक्षा–दीक्षा काशी में ही सम्पन्न हुई। अभी भी वाराणसी में श्री विश्वेश्वर

शास्त्री द्राविड़ तथा श्री गणेश्वर शास्त्री द्राविड़ न्यायवैशेषिक परम्परा के उद्भट विद्वानों में गिने जाते हैं। वाराणसी में अपने पारिवारिक पृष्ठभूमि के माध्यम से न्यायवैशेषिक दर्शन और नव्यन्याय की गम्भीर समझ प्राप्त करने के साथ–साथ वाराणसी में ही आचार्य टी.आर.वी. मूर्ति जैसे सुयोग्य विद्वानों के सम्पर्क में रहते हुए शास्त्री जी आधुनिक दर्शन के भी मर्मज्ञ विद्वान हुए।

आचार्य नारायण शास्त्री द्राविड़ जी से हमारा सम्पर्क अधिक पुराना नहीं रहा। विगत तीन–चार वर्षों से ही आपके सम्पर्क में मैं आया। यह सम्पर्क ऐसा भी नहीं था कि मैं कभी शास्त्री जी से मिला हुआ होऊँ। शास्त्रीजी विगत अनेक वर्षों से न्यूजीलैंड में रह रहे थे। मेरा उनसे सम्पर्क भी कुछ विचित्र सी स्थिति में हुआ। मेरे आदरणीय मित्र प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा जी एक पुस्तक की योजना बना रहे थे जो कि भारतीय दर्शन में इन्द्रियप्राप्यकारित्ववाद शीर्षक से प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में दो अध्याय मैंने भी लिखे। बाद में इस पुस्तक की समीक्षा सौभाग्य से आचार्य नारायण शास्त्री द्राविड़ जी ने अपने वार्धक्य के बावजूद उन्मीलन पत्रिका में लिखी। इस समीक्षा में मेरे आलेख पर उनकी कुछ आलोचनाएँ रहीं, जिनका उत्तर देने के लिए मैंने एक लेख लिखा। मेरे द्वारा समाधानलेख लिखने के बाद अत्यन्त शीघ्र ही, द्राविड़जी ने एक द्वितीय लेख लिखा यह स्पष्ट करने के लिए कि उनके द्वारा उठाये गये प्रश्न मेरे ऊपर नहीं थे, किन्तु न्यायवैशेषिक दर्शन की समग्र परम्परा पर थे। उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया कि किस प्रकार एक समस्या का परम्परा के द्वारा दिया गया समाधान अनुभव के साथ संगत नहीं दिखता, जबकि नैयायिक अपने आपको अनुभववादी कहने में ही गर्व का अनुभव करते हैं। आचार्य नारायण शास्त्री द्राविड़ जी से इस तार्किक वाद–विवाद का ही परिणाम था कि मुझे अभाव के ज्ञान की समस्या पर आलेख लिखने का विचार आया। उक्त आलेख को मैंने लिखा भी, तथा वह उन्मीलन के ही विगत अंक में ''अभाव के ज्ञान की समस्या : एक अनुभववादी समाधान'' शीर्षक के साथ प्रकाशित भी हुआ। इस आलेख में मैंने यह दिखाने का प्रयास किया कि किस प्रकार अभाव ज्ञान की समस्या पर नैयायिकों के द्वारा दिया गया समाधान ही सबसे अधिक अनुभव के करीब है। नारायण शास्त्री द्राविड़ का निधन मुझे मेरी व्यक्तिगत क्षति लगती है। दर्शन के क्षेत्र में मतों का वैभिन्य दूषण नहीं भूषण है, उसके कारण भारतीय दर्शनों की श्रीवृद्धि अतीत में भी हुई थी, तथा भविष्य में भी उसी प्रकार भारतीय दर्शनों की श्रीवृद्धि होती रहेगी।

श्री द्राविड़ जी के द्वारा विविध प्रश्न इतने व्यवस्थित रीति से उठाये जाते थे, कि उन प्रश्नों पर कुछ नये प्रकार से तथा गम्भीरता के साथ सोंचने की आवश्यकता होती थी। छियासी वर्ष की अवस्था में युवकोचित उत्साह से दर्शनों के विभिन्न गम्भीर प्रश्नों पर जिस प्रकार से चर्चा वे करते थे, उससे अनेक बार ईर्ष्या भी होती थी तथा अनेक बार प्रेरणा भी प्राप्त होती थी। मैंने अपनी पुस्तक 'न्यायदर्शन में अनुमान' उनके पास भेजी थी। तत्त्वचिन्तामणि में गङ्गेशोपाध्याय द्वारा व्याप्ति के पूर्वपक्षीय पाँच लक्षण जिस प्रकरण में उठाये गये हैं, उस प्रकरण को व्याप्तिपंचक और पंचलक्षणी नाम से जाना जाता है। इन पाँच लक्षणों में तृतीय लक्षण तथा पंचम लक्षण भिन्न शब्दों में वस्तुतः एक ही परिभाषा को प्रस्तुत करते हैं। इस तथ्य को गङ्गेशोपाध्याय पर व्याख्या करते हुए गङ्गेश के व्याख्याकारों में मथुरानाथ तर्कवागीश आदि ने इंगिग किया है। मैंने अपनी पुस्तक में इसका उल्लेख किया था, जिसको पढ़ते समय शास्त्रीजी को बहुत उत्सुकता हुई कि देखा जाये कि रघुनाथशिरोमणि तथा मथुरानाथ तर्कवागीश आदि ने इस पर क्या लिखा है। उनकी पङ्क्तियाँ क्या हैं। परंतु न्यूजीलैंड में ग्रन्थों का असौलभ्य होने के कारण स्वयं वे इसे नहीं देख पा रहे थे। उन्होंने मुझे फोन किया कि उक्त स्थलों पर व्याख्याकारों की पङ्क्तियाँ क्या हैं। मैंने क्रमवार व्याख्याकारों की उन पङ्क्तियों को पढ़कर उनको सुनाया। वार्तालाप के क्रम में उन्होंने बहुत ही स्नेह से निर्देश किया कि रघुनाथ शिरोमणि पर कुछ कार्य आपको करना चाहिए। वे बोले कि उनकी राय में रघुनाथ शिरोमणि विश्व के गिने–चुने कुछेक सर्वश्रेष्ठ चिन्तकों में से एक हैं। उनकी इस राय से असहमत होना असम्भव है। मैंने उनसे वादा किया कि अवश्य इस पर कुछ कार्य मैं करूँगा। देखिये, उनको दिया गया अपना वादा मैं कब पूरा कर पाता हूँ। शास्त्रीजी को यही मेरी सच्ची श्रद्धाञ्जली होगी, यदि मैं उनको दिये गये अपने वादे को पूरा कर सकूँ। शास्त्रीजी को इतने स्वल्प समय में मैं जितना जान सका, उसके परिप्रेक्ष्य में मुझे हितोपदेश में बचपन में पढ़ा हुआ श्लोक याद आता है – अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्। गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।।

विद्वान व्यक्ति को अपनी बुढ़ापा तथा मृत्यु दोनों से परे समझकर विद्या तथा अर्थ की चिन्ता करनी चाहिए, परन्तु मृत्यु के द्वारा मानों केश पकड़ लिया गया है, ऐसा समझते हुए धर्म का आचरण करना चाहिए। भारतीय जीवनदृष्टि यही है, अजर तथा अमर के समान विद्या तथा अर्थ के

बारे में चिन्ता करना, तथा सर्वदा मृत्यु के पंजे में ही हैं, इस बात को न भूलते हुए धर्माचरण करना। शास्त्रीजी ने अपने जीवन में इस उपदेश को भलीभाँति स्मरण में रखा था। इसी कारण छियासी वर्ष की अवस्था में भी सर्वदा शास्त्रचर्चा करते रहते थे। हमेशा नवीन प्रश्नों का उद्‌भावन तथा उनका परिष्करण करने में लगे रहते थे। अभी थोड़े दिनों के पूर्व ही उनका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अरिवल भरतीय दर्शन परिषद् के दार्शनिक चिन्तन–सृजन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत शास्त्रीजी के अत्यन्त प्रिय रहे प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा ने सम्पादित कर प्रकाशित किया है जिसका शीर्षक है–''भारतीय दर्शन की मूलगामी समस्याएँ। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में शास्त्रीजी ने भारतीय दर्शनों के विविध प्रश्नों तथा उन प्रश्नों का पाश्चात्य दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में बहुत गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया है। यह ग्रन्थ अपने आप में भारतीय दर्शन के जिज्ञासुओं के लिए बहुत सारी उपयोगी विषयों को समाहित किये हुए है। यह ग्रन्थ उनके जीवनकाल में विविध अवसरों पर लिखे गये विभिन्न आलेखों का संग्रह है। हाल में ही शास्त्री जी का एक ग्रंथ 'मादतीय प्रमाण शास्त्र' शीर्षक से मराठी भाषा में प्रकाशित हुआ था। इसके अतिरिक्त पूर्व में शास्त्री जी द्वारा न्यायकुसुमांजलि और आत्मतत्त्व विवेक की आंग्ल भाषा में समीक्षात्मक व्याख्या तथा नव्यन्याय में 'पक्षता प्रकरण' पर आंग्ल भाषा में ही जो मौलिक ग्रंथ लिखा गया था, वे सभी अपने क्षेत्र में अत्युच्च कोटि के कहे जा सकते हैं। अपने जीवन की सन्ध्या पर अपने जीवन में किये गये बहुत सारे महत्त्वपूर्ण कार्यों का संकलन करना शायद अभी बाकी ही था कि शास्त्री जी चल बसे। भारतीय दर्शनों की परम्परा इतनी समृद्ध है कि प्रायः एक जीवन तो उस परम्परा को समझने के लिए पर्याप्त नहीं है। बाद में जब कुछ नया करना तथा सोचना सम्भव हो पाता है तो आयु डराने लगती है। यह दुःख मन में रह जाता है कि शायद कुछ समय यदि वे और हमारे बीच रहते तो कुछ और हम सब को अपने ज्ञान से दे जाते। परन्तु कुछ चीजें तो विधाता के ही वश में होती हैं। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे तथा हमें यह शक्ति दे कि उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चल सकें।

दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

ISSN 0974 0053